मंगलाचरण

ओंकार बिन्दुसयुक्त नित्य ध्यायन्ति योगिन: ।
कामद मोक्षद चैव ॐकाराय नमोनमः ॥

श्री पच-परमेष्ठि को नमस्कार

प्रथम 'ॐ' शब्द है। जब आत्मा सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहंत परमात्मा होते हैं, तब पूर्वबद्ध तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति के पुण्य प्रारब्ध के कारण दिव्य वाणी का योग होने से ओष्ठ बन्द होने पर भी आत्मा के सर्व प्रदेशों से ॐकार एकाक्षरी (अनक्षरी) दिव्य वाणी खिरती है। (उसे वचन-ईश्वरी अर्थात् वागेश्वरी कहा जाता है, वह शब्द ब्रह्मरूप है) अरहंत भगवान सर्वथा अकषाय शुद्ध भाव से परिणमित हैं, इसलिए उनका निमित्त होने से वाणी भी एकाक्षरी हो जाती है। और वह वाणी ॐकार रूपमें बिना ही इच्छा के खिरती है। इस प्रकार श्री ॐकार दिव्यध्वनि-सरस्वती के रूप में तीर्थंकर की वाणी सहज भावसे खिरता है।

+ ॐकारमय ध्वनि-तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना को सुननेवाला जीव अंतरंग से अपूर्व भावसे उल्लसित होकर स्वाभाविक 'हाँ' कहे कि मैं पूर्ण कृतकृत्य अविनाशी शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा-इतना ही हूँ। ऐसी सहज 'हाँ' कहनेवाला सुयोग्य जीव अविनाशी मंगल पर्यायको प्राप्त करता है। जो जीव नित्य स्वभाव-भावसे, नित्य मंगल पर्याय से परिणमित हुआ है, वह भव्य जीव नैगम नयसे परमार्थ का आश्रयवाला हो चुका है। पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ करके वह अल्प काल में ही उस पूर्ण पवित्र परमात्मदशा को प्रगट कर लेता है, जो शक्ति रूपमें विद्यमान है।

यहां ॐकार से शुद्ध स्वरूपको नमस्कार किया है। उत्कृष्ट आत्म-स्वभाव पूर्ण वीतराग स्वभावमय शुद्ध सिद्ध दशा जिसे प्रकट हो गई है, उसे पहचान कर नमस्कार करना, सो निश्चय स्तुति है। परमात्मा को नमस्कार करनेवाला अपने भावसे अपने इष्ट स्वभाव को नमस्कार करता है, वह उसीकी ओर झुक जाता है।

स्वाध्याय प्रारंभ करनेसे पूर्व भगवान की दिव्य वाणी के नमस्कार के रूपमें मंगलाचरण किया है।

स्वाध्याय का अर्थ है- स्व के सम्मुख जाना; स्वभाव के अभ्यास में ही परिणमित होना। अधि-सन्मुख; आय-युक्त होना। स्वरूप में युक्त होना सो स्वाध्याय है। जो पापको गाले और पवित्रता को प्राप्त करावे, सो मंगल है। पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ स्वभाव प्रकट है, ऐसे त्रिलोकी-नाथ तीर्थंकरदेव की अखण्ड देशना को जो भव्य जीव अंतरंग में उतार कर, अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्यायको निश्चयसे जानकर, 'मैं भी

+ अ=अरिहन्त. अ=अशरीरी, सिद्ध परमात्मा आ=आचार्य, उ=उपाध्याय, म=मुनि

अ+अ+आ+ऊ+म=ॐ (ओम्)

इस महामन्त्रमें पंचपरमेष्ठी पद सर्व शास्त्रों का सार. सर्वगुण सम्पन्न शुद्ध आत्मस्वरूप का भाव अन्तर्हित है।

ऐसा ही हूँ' इस प्रकार पूर्ण स्वाधीन स्वभाव की दृष्टि से अभेदको लक्ष्य करता है, वह स्वयं अविनाशी मांगलिक होकर पुण्य–पाप उपाधिमय सर्व कर्मों का नाश करता है।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥१॥

भावार्थ— ओमकार वाचक है, उसका वाच्य भाव ओमकार शुद्ध आत्मा है। उस शुद्ध आत्मस्वरूपकी पहिचान और रुचि परमात्म स्वरूप पूर्ण पवित्र इष्टको देनेवाली है। योगी पुरुष उस शुद्धात्मा का नित्य ध्यान करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त करते हैं। यदि किसी अशमें दशा अपूर्ण हो तो स्वर्ग प्राप्त करके, फिर मनुष्य होकर, मोक्षको प्राप्त करते हैं। ऐसे 'ओम्' को बारम्बार नमस्कार हो।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

भावार्थ —जिसमें छिद्र नहीं है, ऐसी एकाक्षरी 'ॐकार' दिव्य-ध्वनि की दिव्यधारा रूपी तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना, सद्‌बोध सरस्वती उस सम्यग्ज्ञान को कहनेवाली है। वह कैसी है? इस प्रश्न के उत्तरमें कहते हैं कि जैसे मेघ–वर्षा पृथ्वी के मैलको धो डालती है, उसी प्रकार वीतराग भगवान की दिव्यध्वनि रूपी सरस्वती को अखण्ड ज्ञानधारा के द्वारा ग्रहण करके भव्य जीवोंने दोष–दुःखरूप मल-मैल–पापको धो डाला है, अशुद्ध परिणतिका नाश कर दिया है और अनेक सन्त-मुनि उसके द्वारा तर गये हैं।

दूसरे मंगल में श्री गुरुदेवको नमस्कार किया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

भावार्थ:—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में अन्ध बने हुओं की आंखों को ज्ञानाञ्जन रूपी शलाका से खोल दिया है उन श्री गुरु देवको नमस्कार करता हूँ।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रान्ति, राग द्वेष और मोहका नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले है तथा सत्पुरुष के देनेवाले हैं। ज्ञानीका वचन सुयोग्य जीवको प्रतिबोध प्राप्त कराता है। उसकी निर्दोष वाणीको सावधान होकर श्रवण करो और मोहका नाश करके स्वरूपमें सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो।

शुद्ध साध्यकी यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टि के द्वारा असंग, निर्मल, ज्ञायक स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागम का सार है

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥

अर्थ—समयसार = शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थों में सार रूप है। सार=द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो। शुद्ध-स्वरूपको पहचान कर भाव से नमस्कार करके अन्तःस्वरूप में झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूपका आदर करता हूँ।

द्रव्यकर्म = रजकण, सूक्ष्म धूल, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड रूपी कर्म प्रकृति है।

भावकर्म = रागद्वेष विकाररूप विभावादिक शक्ति का परिणमन; द्रव्यकर्मका निमित्त प्राप्त करके जीवमें विकार होता है, वह अशुद्ध उपादान के आश्रित है, किन्तु स्वभावमें नहीं है।

भाव = अवस्था; परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है; वह भूलरूप क्षणिक विकारी भाव है।

द्वारा स्वीकार करके इस प्रकार पर-भाव का निषेध करता है कि द्रव्य कर्म, भावकर्म और नो कर्म मैं नहीं हूँ तथा असंयोगी अखण्ड ज्ञायक स्वभाव में एकत्व भावसे स्थिर होता है अर्थात् स्वभाव में परिणमन करता है, नमता है या उस ओर ढलता है, तब नास्तिक मत रूप विपरीत दशा का (विकारी पर्याय का) अभाव हो जाता है।

चित्स्वभावाय=ज्ञान चेतना जिसका मुख्य गुण है, उससे पूर्ण चैतन्य स्वभाव त्रिकाल स्वाधीन रूप है। जो 'है' उसीको पहचानने से भेद विकल्प (राग)का लक्ष्य छूट जाता है, इसलिए उस अखण्ड गुण में एकाग्र स्थिरता होनेपर शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है। ज्ञान चेतना की अनुभूति के द्वारा प्राप्त की प्राप्ति होती है । पर निमित्त रहित अन्तर में, स्थिर स्वभाव में स्थिर होने से वह प्रकट होता है । बाह्य लक्ष्य से वह स्वरूप प्रकट नहीं होता । 'मैं' अखण्डित चैतन्यरूप अपार अनन्त सामर्थ्य से पूर्ण हूं । पर से भिन्न अकेला पूर्ण और स्वाधीन हूँ। इस प्रकार की श्रद्धा अंतरंग एकाग्रता से प्रकट होती है। अपना गुण किसी बाह्य निमित्त से नहीं आता, किन्तु अपने स्वभाव में से ही प्रकट होता है ।

अधूरी अवस्था समस्त द्रव्य को एक ही साथ प्रत्यक्ष लक्ष्य में नहीं ले सकती, किन्तु अपने त्रैकालिक अखण्ड द्रव्य को पहचानने के लिए गुण-गुणी में व्यवहार दृष्टि से भेद करके अभेद के लक्ष्य से प्रत्येक गुण को लक्ष्य में लेकर निर्णय किया जासकता है। उससे कहीं वस्तुस्वभाव में सर्वथा भेद नहीं होता । वर्तमान मति-श्रुतज्ञान से त्रैकालिक पूर्ण आत्मस्वभाव का स्वाधीनतया निर्णय किया जा सकता है। वह असली स्वभाव क्योंकर प्रकट होता है? "स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपने ही अनुभव से प्रकट होता है । पर से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञदेवने जैसा निर्णय किया है, वैसा ही निश्चय करने से स्वाधीन अनुभूति रूप शुद्ध निर्मल अवस्था अन्तरंग परिणतिरूप ज्ञानक्रिया के द्वारा प्रकट होती है । उससे शुद्ध स्वभाव की

प्राप्ति होती है अर्थात शुद्ध स्वभाव दशा प्रकट होती है। (अतरग स्थिति के लिए आभ्यन्तर ज्ञान क्रिया में सक्रिय है और पर से अक्रिय है।) पुण्यादि विकारी भाव से राग (विकल्प) से अविकारी स्वभाव प्रकट नहीं होता।

निश्चय से अर्थात यथार्थ दृष्टि से स्वय निज को अपने से ही जानता है, उसमें किसी निमित्त का आधार नहीं है। अपनी सहज शक्ति से ही स्वय परिणमन करता है, जानता है और प्रकट प्रकाश करता है। ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। स्वाधीन सत्ता के भान में स्वय प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। अज्ञानी भी निजको ही जानता है, किन्तु वह वैसा न मानकर विपरीत रूप से मानता है। वास्तव में तो आत्मा ही प्रत्यक्ष है। 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। जिनका आत्मसमभिप्राय पराश्रित है वे मानते हैं कि मेरा ज्ञान निमित्ताधीन है। मन, इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश इत्यादि निमित्त का साथ हो तो ही उसके आधार पर मैं जानता हूँ, यों मानने वाले निज को ही नहीं मानते। और फिर कोई यह माने कि पहले का स्मरण हो तो ज्ञान सकू, वर्तमान सीधी बात को मैं नहीं जान सकता, तो भी वह झूठा है। वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा त्रिकाल अखण्ड ज्ञान स्वरूप का लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आधार पर वर्तमान में ज्ञान की निर्मलता से स्पष्ट ज्ञान होता है। और कोई यह मानता है कि यदि पहले का भाग्य हो तो धर्म हो, उसके लिये नाना कहते हैं कि तू अभी जाग और उद्यम कर। अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप धर्म तो आत्मा के स्वभाव में ही है, किन्तु जब प्रतीति करता है तब वर्तमान पुरुषार्थ से त्रिकाल स्वभाव को जाना जा सकता है। यदि पुरुषार्थ के लिए पूर्व स्मरण तथा किसी निमित्त के आधार पर ज्ञान धर्म होता हो तो एक गुण के लिए दूसरे पर गुण का आधार तथा अन्य पर पदार्थ का आधार चाहिए और उसके लिए तीसरा आधार चाहिए। इस प्रकार से पराश्रितपने का बहुत बड़ा दोष आता है। पराश्रित सत्ता की निज

स्वभाव नहीं माना जा सकता, इसलिए गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे त्रिकाल एक रूप हैं। अवस्था शक्ति–व्यक्ति का भेद है, किन्तु वस्तु में–गुण में खण्ड–भेद नहीं है। गुणी के आधार से त्रिकाल गुण साथ ही रहते हैं। वस्तु त्रिकाल एकरूप ही है। उसे वर्तमान निर्मलता से, पुरुषार्थ से, स्वानुभव से प्रत्यक्षतया जाना जा सकता है। अपने आधार से स्वयं निज को ही जानता है, इसलिये प्रत्यक्ष है।

सर्वभावान्तरच्छिदे–अपने को तथा समस्त जीव–अजीव चराचर विश्वमें स्थित त्रैकालिक सर्व वस्तुओं को एक ही साथ जानने की स्वाधीन शक्ति प्रत्येक जीव में है। ऐसा चैतन्यस्वरूप समयसार आत्मा है। उसे पहचानकर नमस्कार करता हूँ। ऐसा, इतना ही आत्मा है। उसकी हाँ कहनेवाला ज्ञायक स्वयं अकेला महिमावान है, बड़ा है, पूर्ण स्वभाव में त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है। अनन्त, अपार के ज्ञाता तथा अपार और अनन्तता को ध्यान में लेनेवाले की थैली (ज्ञान–समझशक्तिरूपी थैली) भाव दृष्टि से (गंभीरतामें) अमाप है; अनन्त गंभीर भावयुक्त है। इसप्रकार का माप करनेवाला स्वयं ही शक्ति रूप में पूर्ण परमात्मस्वरूप, सर्वज्ञ स्वभाव को पहचानकर नमस्कार करनेवाला स्वयं ही परमात्मा है। वह शुद्ध साध्य के लक्ष्य से प्रकट परमात्मा हो जाता है। जिसका बहुमान है, रुचि है वह उस रूप होजाता है।

पूर्ण स्वाधीन स्वरूप की प्रतीति के बिना परमात्मा की भक्ति नहीं हो सकती। परमात्मा की पहचान के बिना राग का–विकारका–संसार–पक्ष का बहुमान करेगा। स्वरूप की प्रतीति वाला निःशंकतया पूर्ण को (साध्यको) नमस्कार करता हुआ अखण्डता से, अखण्ड सत् के बहुमान द्वारा पूर्ण को प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक आत्मा में एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानने की शक्ति विद्यमान है। ऐसे आत्मा अनन्त है। प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न अकेला पूर्ण सर्वज्ञ है। त्रैकालिक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमय अनन्त पदार्थ को सर्वरीत्या

जानने की शक्ति प्रत्येक जीव द्रव्य में विद्यमान है। प्रत्येक समय में तीनोंकाल और तीनोंलोक केवलज्ञान में सहज दिखाई देते हैं। अनन्त के वाच्यरूप भाव को भव्य जीव श्रवण करके एक क्षण भर में अनन्त का विचार कर लेते है। अनन्त ज्ञान की शक्ति और सर्वज्ञ स्वभाव की 'हाँ' कहने वाले समस्त जीव शक्तिरूप सर्वज्ञ है। ना कहने-वाला नास्तिक भी शक्तिरूप सर्वज्ञ है। ना कहने वाला भी अपार अनन्त को ध्यान में लेने वाला तो है ही, इसलिए ना कहने पर भी उसमें हाँ गर्भित है। अत, प्रत्येक देहधारी आत्मा पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ ही है। मैं पूर्ण अखण्ड आनन्दघन त्रिकाल हूँ, सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार स्वत हाँ कहकर 'सर्वोत्कृष्ट' अनुपम स्वभाव को पहचान कर अपनी अपूर्व महिमा को प्राप्त करके अपने को देखने वाला अपूर्व महिमा को लाकर नम्रीभूत होता हुआ वह वैसा ही है। पूर्ण स्वभाव को माना-जाना और उसमें नत होता हुआ, वह पूर्ण ही है। वह बीचमें पुरुषार्थ के काल के अन्तर को भाव से पृथक् कर देता है। और पूर्ण परमात्मा को देखता हुआ पूर्ण स्वभाव की महिमा को गाता है। वह संसार की महिमा को नहीं देखता। बाह्य इन्द्रियों के आधीन बाह्य दृष्टि करने वाला, अपने को भूलकर दूसरे के बड़प्पन को आँकता है। किन्तु पूर्ण शक्ति को बताने वाली जो दिव्य दृष्टि है, उस पर वह विश्वास नहीं ला सकता और वर्तमान को ही मानता है।

अधूरी दशा में शक्ति की अपेक्षा से तीनकाल और तीनलोक को जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। यद्यपि वह सीधा दिखाई नहीं देता तथापि उसका यथार्थ निर्णय ज्ञान से हो सकता है। जिस में तीनकाल और तीनलोक एक ही समय में दिखाई देते हैं, ऐसे अपने एकान्तिक ज्ञान को ही मैं जानता हूँ। इस प्रकार सर्वज्ञ स्वभाव की 'हाँ' कहनेवाला वर्तमान अधूरे ज्ञान से सम्पूर्ण का निर्णय निःसन्देह तत्त्व में से लाता है।

मैं पर को जानूँ तभी मैं बड़ा हूँ यह बात नहीं है, किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्तज्ञान पर्याय के रूप में होने से मैं पूर्ण आनन्द

आत्मा हूं। इस प्रकार पूर्ण साध्य का निश्चय करके उसी में एकत्व–विभक्त, भिन्न एकाकार (पर से भिन्न, अपने से अभिन्न) परिणति को युक्त करके 'आत्म ख्याति टीका' के द्वारा प्रथम मंगलाचरण किया है।

पूर्ण उत्कृष्ट आत्मशक्ति को जानकर जो निश्चय से नमता है वही अपनी शुद्ध परिणति रूप होकर स्वाधीन स्वभाव रूप से नत हुआ है। वही परमात्मा का भक्त है। प्रतीति हीन जीव ही राग के प्रति नत होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय सहित अनन्त गुण युक्त समस्त जीव–अजीवादि पदार्थों को एक समय में एक ही साथ प्रगट रूप से जाननेवाला शुद्ध आत्मा ही सार रूप है। उसको मेरा नमस्कार हो। शुद्ध स्वभाव में तन्मय अस्तिरूप परिणमित हुआ और नत हुआ इसलिए असारभूत संसार के रूप में नहीं हुआ। अब राग–द्वेष रूप संसार का आदर कभी नहीं करूंगा इस प्रकार की सौगन्ध विधि सहित भाव वन्दना की है।

सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप शुद्ध आत्मा इष्ट है, उपादेय है। उसी की श्रद्धा, रुचि और प्रतीति के द्वारा सर्वज्ञ के न्याय से जिसने त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव को स्वीकार किया वह सर्व पदार्थ, त्रिकाल की अवस्था को प्रतीति के द्वारा जानने वाला हुआ। अब यदि वह उसी भाव से स्थिर रहे तो उसे रागद्वेष हर्ष–शोक उत्पन्न न हो। 'मैं जाननेवाला ही हूँ' इस भाव से अशान्ति और असमता नहीं होती। जैसे सुन्दर रूप वाली अवस्था को लिये हुए आम (आम नाम का पुद्गल पिण्ड) पहले विष्टा के खात में से उत्पन्न होकर वर्तमान क्षणिक अवस्था में सुन्दर दिखाई देता है। स्मरण रहे कि वह पुनः विष्टारूप परिणमित होने वाला है। इस प्रकार त्रिकाल की अवस्था को देखने वाले को सुन्दर असुन्दर दिखाई देने वाले किसी भी पदार्थ के प्रति राग–द्वेष या हर्ष–विषाद नहीं होता, और इस प्रकार किसी के प्रति मोह नहीं होता। नारकी के शरीर को छोड़कर बहुत बड़ी महारानी के पद पर

वह स्व स्वभाव परिणमन रूप सृष्टि का कर्त्ता जीव है। इस दृष्टि से प्रत्येक जीव स्वयं स्वतंत्र ब्रह्मा है।

विष्णु=रागद्वेष मोहरूप विकार से रहित अपने शुद्ध स्वभाव को स्थिर रखने वाला अथवा विभाव से निज को बचाने वाला और निज गुण की रक्षा करने वाला विष्णु है। प्रत्येक समय अपने अनन्त गुण की शक्ति की सत्ता से निज ध्रुव शक्ति (सदृश अंश) को लगातार स्थिर रखने के कारण प्रत्येक आत्मा स्वभाव से विष्णु है।

महेश = जो राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करता है अथवा पूर्ववर्ती क्षणिक पर्याय का नाश करता है, वह महेश है। जो अनुपम है अर्थात् जिसे किसी और की उपमा नहीं दी जा सकती, जो स्वयं ही समस्त पदार्थों को जानने वाला है और ज्ञान के द्वारा माप करने वाला तथा अपार ज्ञान एवं ऐश्वर्य वाला है, इसीलिए वह अनुपमेय है। तथापि कथन में वह सिद्ध परमात्मा के समान कहा जा सकता है। जैसे शुद्ध आत्मा कैसा है? जो शुद्ध बुद्ध मुक्त प्रगट सिद्ध परमात्मा हुए हैं, वैसा है। जैसा है वैसा (शाश्वत् ठंकोत्कीर्ण) पर सत्ता से भिन्न स्वसत्ता में निश्चल है।

पुरुष=जो अखण्ड ज्ञान दर्शन उपयोग में एकत्व मानता और जानता हुआ उपयोग पूर्वक एकाकार होकर पूर्ण पवित्र दशा को प्राप्त करके उत्कृष्ट आनन्द रस रूपी 'शिव-रमणी' के साथ रमण करता है, तथा शुद्ध 'चेतना सखी' के साथ निराकुलता सहित निजानन्द पूर्वक केलि करता है, वह पुरुष है।...

पुरुष=आत्मा।

सत्य आत्मा=अपने पूर्ण स्वरूप को पहचानने वाला तथा शुद्ध-स्वरूप में सुनिश्चित भाव से रहने वाला, स्थिर होने वाला, एवं परमात्म दशा को प्राप्त सत्य आत्मा है और रागद्वेष अज्ञान भाव को प्राप्त मूढ़ आत्मा मिथ्यादृष्टि है।

अरहत=पूज्य=त्रिकाल के इन्द्रों के द्वारा त्रिलोक पूज्य है, तीनो लोको में सब के लिये वन्दनीय हैं सभी गुण निर्मल प्रगट हो गये हैं और जिनमें परम पूज्य गुणों की मुख्यता प्रगट है। वे पूज्य हैं।

जिन=रागद्वेष और अज्ञान को स्वरूप की स्थिरता के द्वारा जीत लिया है ऐसे पूर्ण पवित्र वीतराग को जिन कहते हैं।

आप्त=अठारह दोषों से रहित परम हितोपदेशक सर्वज्ञ आप्त हैं।

भगवान=महिमावान । सहज आनन्द=पर निमित्त से रहित निरुपाधिक स्वाभाविक आनन्द ।

हरि=जो अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति से पुण्य-पाप के रोग को हर लेता है सो हरि है । जो पराधीनता को, रागादि मैल को, धर्म कलंक का नाश करके पूर्ण पवित्र स्वाधीनता प्रगट करता है, पुण्य-पाप की उपाधि को हरता है और पवित्रता को प्राप्त करता है, वह हरि है । इस प्रकार जो जो गुण निष्पन्न नाम हैं, उन गुणों को लक्ष्य में रखकर उस अपेक्षा से आत्मा का कथन करने मे कोई विरोध नहीं है (एकान्त पक्ष वाले को नामादि में विरोध होता है ।) यदि कोई 'पापी' नाम रखे तो पापी अर्थात् पा+पी=दूसरे को सत्योपरूपी धर्म अथवा अमृतरूपी उपदेश को पिलाने वाला और स्वयं पीने वाला अर्थात् स्वयं अपने ही सहज समता आनंद गुण को धारण करने वाला सिद्ध हुआ । इस प्रकार गुण की दृष्टि को ही मुख्य करने वाले, अनेक अपेक्षाओं को समझने वाले अथात् इस प्रकार विशाल समझ पूर्वक स्याद्वाद स्वभाव को समझने वाले का राग-द्वेष विलीन हो जाता है।

इस समयसार में आत्मा की शुद्धि का अधिकार है।

आत्मा देहादि-रागादि से पृथक् है । जबतक आत्मा ऐसी वास्तविकता को नहीं जानता तबतक मोह कम नहीं होता । जब यथार्थता जानी जाती है, तभी अन्तरंग से पर पदार्थ की महिमा दूर होती है और निज का माहात्म्य प्रगट होता है । सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को जैसा देखा, वैसा ही आत्मस्वभाव इस समयसार शास्त्र में वर्णित है।

दूसरे कलश का प्रारंभ

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकांतमयी मूर्ति नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अर्थः—जिसमें अनेक अंत-धर्म हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस-मई मूर्ति नित्य सदा ही प्रकाशता अर्थात् प्रकाशरूप हो। वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनंत धर्म हैं, ऐसा और प्रत्येक्-परद्रव्यो से, पर-द्रव्य के गुण पर्यायो से भिन्न तथा पर द्रव्य के निमित्त से हुऐ अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्व को अर्थात् असाधारण सजातीय-विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निज स्वरूप को पश्यंती—अवलोकन करती (देखती) है।

यहां पर सरस्वती को नमस्कार किया है। वह कैसी है—अनन्त धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती। उसमें कहा है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है। उसके स्वभाव रूप अनन्त धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं। ऐसे सर्व पदार्थों के स्वरूप को सरस्वती रूप सम्यग्ज्ञान यथार्थ प्रकाशित करता है। आत्मा में अनन्त धर्म स्वाधीनतया भरे हुए हैं। वे आत्मा की पहिचान और स्थिरता के द्वारा आत्मा से प्रगट होते हैं।

कोई कहता है—'अभी यह समझ में नही आ सकता' किन्तु आत्मा कब नहीं है ? देह, इन्द्रियादिक तो कोई जानता नहीं है। जो जानता है वही स्वयं है, इसलिये अवश्य समझा जा सकता है। अपने को सर्वज्ञ न्यायानुसार जाने तो उसमें स्थिर हो और अतीन्द्रिय आनन्द आवे।

अनन्तगुण=अपार गुण। प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ में स्वतन्त्रतया अनन्त धर्म हैं। देह मंदिर में भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञान आनन्द स्वरूप में अनन्त गुणरूप तत्त्व है, उसे पहिचान कर स्थिरता करे तो शुद्ध स्वरूप प्रगट हो। इसका नाम है धर्म।

सर्वज्ञ भगवानने आत्मा, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन प्रत्येक में शाश्वत् अनन्त गुण देखे हैं। किसी के

गुण किसी के आधीन नहीं है। पर-वस्तु किसी के लिए मददगार नहीं है, इसलिए वस्तु अर्थात् पदार्थ के कोई गुण किसी के आधीन नहीं होते।

कुछ गुणों का कथन

[१] प्रत्येक पदार्थ में सत [अस्तित्व] गुण अनादि अनन्त है, इसलिए प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से सत् है, किसी के आधीन नहीं है। यह समझने से स्वाधीन सुखधर्म अपने आपसे प्रगट होजाता है। इस प्रकार पर से भिन्न ज्ञान हो जावे तो अपने सुख का स्वत प्राप्त करले।

[२] प्रत्येक पदार्थ में वस्तुत्व नाम का गुण है। प्रत्येक पदार्थ अपने आप प्रयोजनभूत क्रिया स्वयं ही कर सकता है। आत्मा पर से भिन्न है। मन, वाणी, देहादि सर्व संयोग आत्मा से त्रिकाल भिन्न हैं। इसलिए आत्मधर्म में किसी अन्य पदार्थ की सहायताकीआवश्यकता नहीं है।

(यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात मेरी समझमें नहीं आती, तब उसे अनन्त काल में जो महा दुर्लभ मनुष्य भव मिला वह किस काम का। आत्म प्रतीति के बिना जगत् में अनन्त कुत्ते बिल्ली कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होते हैं और मरते हैं उनका क्या महत्त्व है। इसी प्रकार अनन्त काल में अनन्त प्रकार से महान् दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त करके अपूर्व आत्मस्वभाव को सत्समागम के द्वारा न जाना तो उसकी कोई कीमत नहीं है। और यदि पात्रता के द्वारा आत्मस्वभाव को जान ले तो उसकी महिमा अपार है।)

वस्तुत्वगुण का अर्थ प्रयोजनभूत अपनी क्रिया का करना है। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रवृत्ति अपने आप करती है, तदनुसार आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा करता है। जड़-परमाणु इत्यादि अपनी क्रिया अपने आप करते हैं, उसमें किसी की सहायता नहीं होती। इसलिए देह की

क्रिया जीव की सहायता के बिना देह स्वतंत्रतया करती है। देह की क्रिया देह में रहने वाला प्रत्येक परमाणु स्वतंत्रतया करता है। उसमें आत्मा कारण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया आत्मा और जड़ देहादि की क्रिया जड़ करता है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। यह कर्तृत्व का अज्ञान है। पर वस्तु की क्रिया तीन काल और तीन लोक में कोई आत्मा नहीं कर सकता।

[३] प्रत्येक पदार्थ में 'प्रमेयत्व,' अर्थात् किसी भी ज्ञान का विषय होना विद्यमान है। उसमें बताने की योग्यता है। ज्ञेय अथवा प्रमेय का अर्थ है—ज्ञान में अपने को जानने की योग्यता। यह योग्यता जिसमें न हो वह वस्तु नहीं कही जा सकती।

प्रश्नः—क्या वह आँखों से दिखाई देता है ?

उत्तरः—नहीं, वह ज्ञान के द्वारा ही दिखाई देता है—ज्ञात होता है। आँखें तो अनन्त रजकण का पिण्ड है। उसे खबर ही नहीं कि मैं कौन हूँ। किन्तु उसे जानने वाला अलग रहकर जानता रहता है। ज्ञान के द्वारा ठंडा-गरम मालूम होता है। ज्ञान, ज्ञान में जानने की क्रिया करता है। उस ज्ञान की क्रिया में ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं अपने को जानता है। और ज्ञान का ऐसा स्वाभाव है कि पर उसमें भिन्न रूप से ज्ञात होता है। वह प्रत्येक आत्मा का गुण है। स्वयं अपने को ज्ञेय बनाने पर सब धर्म समझ में आजाते हैं।

इस देह में रहने वाला आत्मा देह से भिन्न है। यदि यह न जाने तो अंतरंग में पृथक्त्व के ज्ञान का कार्य जो शान्ति है वह न हो, किन्तु अज्ञान का कार्य जो अशान्ति है, जिसे जीव अनादि काल से कर रहा है वही बनी रहेगी। आत्मा का त्रिकाल ज्ञान स्वभाव है। उसमें अनन्त पदार्थ को युगपत् जानने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु अनादि से देह-इन्द्रियों में दृष्टिपात करके अपने को भूलकर राग के द्वारा पर को जानता रहता है। दृष्टिपात करने वाला तो स्वयं है किन्तु

कर्ज़ दूसरे का चुकाता है। अगुन भ्रात अनन्त, गुण का मूलधन जिस प्रकार सिपाही है वह तो नहीं जानता किन्तु वह सरदार जानता है कि घर पर नगियाँ, खिड़कियाँ, दरवाजे कितने हैं और कैसे हैं। इसी प्रकार सबको जानने वाला यह नहीं जानता कि वह स्वयं कैसा है। देह, इन्द्रियाँ स्वयं कुछ नहीं जानतीं, किन्तु वे चैतन्य पदार्थ के ज्ञान में नैमित्तिक हैं। जड़ नहीं जानता, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, किन्तु वह ज्ञेय है।

(६) 'अचेतनत्व'—आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अचेतन पदार्थ हैं। उसका गुण अचेतनत्व (जड़ता) है।

(७) 'मूर्तिकत्व'—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल में रूपित्व (मूर्तिकत्व) है। उसके अतिरिक्त पाँच वस्तुएँ अरूपी (अमूर्तिक) है

(८) 'अमूर्तिकत्व'=स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित।

उन उन गुणों में समय समय पर परिणमन होना सो पर्याय है, जो कि अनन्त हैं।

(९) प्रत्येक वस्तु में एकत्व है। अपना अपना अनन्त स्वभाव अर्थात् गुण वस्तुरूप से एक है, इसलिए एकत्व है।

(१०) अनंतगुण के लक्षण, संख्यादि भेद से देखा जाये तो प्रत्येक वस्तु में अनेकत्व भी है।

(११) वस्तु में त्रिकाल स्थिर रहने की अपेक्षा से नित्यत्व भी है।

(१२) प्रतिक्षण अवस्था का बदलना और नई अवस्था का उत्पन्न होना; इस प्रकार का अनित्यत्व भी है।

यह जानने की इसलिये आवश्यकता है कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, त्रिकाल में पर से भिन्नरूप है। यदि ऐसा न माना जाये तो राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करके स्वभाव को नहीं पहचाना जा सकता।

(१३) 'भेदत्व' प्रत्येक वस्तु में है। वस्तु अनंत गुण स्वरूप से अभिन्न है। तथापि गुण-गुणी के भेद से नाम, संख्या, लक्षण, प्रयोजन से भेद है। जैसे गुड़ नाम का पदार्थ है, उसमें मिठास, गंध, वर्ण इत्यादि अनेक गुण हैं, उसी प्रकार आत्मा एक वस्तु है। उसमें ज्ञान, दर्शन; इत्यादि अनन्त गुण हैं। गुण-गुणी के नाम से जो भेद होता है सो संज्ञाभेद है। गुणों की संख्या अनन्त है और आत्मा एक है, यह संख्याभेद है।

लक्षण भेद

आत्मा का लक्षण चैतन्य आदि गुणों का धारण करना है। ज्ञान गुण का लक्षण स्व-पर को जानना है। चारित्र गुण का लक्षण स्थिर होना है। श्रद्धा गुण का लक्षण प्रतीति करना है।

इस प्रकार गुण-गुणी में लक्षण भेद है।

(१४) 'अभेद'—सभी गुण एक वस्तुरूप हैं, इसलिए अभेद हैं।

अपने प्राचीन स्वभाव को समझने की यह बात है। समझ के साथ सब सरल है और बिना समझे सब मुश्किल है। अन्धकार को दूर *करने के लिए दूसरे अन्धकार की आवश्यकता नहीं होता, किन्तु* प्रकाश की ही आवश्यकता होती है, इसी प्रकार अनन्त काल का अज्ञान दूर करने के लिए यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। जैसे अन्धकार में दर्पन या कोयला, मोती, काच इत्यादि नाना वस्तुएँ एकसी दिखाई देती हैं और यदि प्रकाश लेकर देखा जावे तो वे जैसी भिन्न भिन्न हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसी प्रकार देह, मन, वाणी को राग-द्वेष से देखने पर अज्ञान के कारण सब एक सी दिखाई देती हैं। आत्मा तथा देहादि के साथ आत्मा एकसा दिखाई देता है। उसे यथार्थ ज्ञान से देखने पर यह अलग दिखाई देता है। यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय कर तो शुद्ध स्वरूप प्रगट नहीं होता, इसलिये सच्चे ज्ञान के द्वारा अनन्त आत्माओं से अपने आत्मा को अलग मानना चाहिए।

भी वर्तमान निमित्ताधीन उष्ण अवस्था को न देखकर त्रैकालिक शीतल स्वभाव को देखें, तो जल स्वभाव से शीतल ही है। इसी प्रकार द्रव्यदृष्टि से आत्मा में सदा शुद्धत्व ही है।

(१६) अशुद्धत्व—काम-क्रोध, मोह की वृत्ति वर्तमान अवस्था में क्षणिक है। उस (अशुद्धि) का नाश हो सकता है और स्वभाव में जो निर्मलतादिरूप में अनन्त गुण हैं वे रह सकते है। वर्तमान अशुद्ध अवस्था भी है और द्रव्य स्वभाव में पूर्ण शुद्धता भी है। इन दोनो पहलुओं को जानना चाहिए। यदि आत्मा वर्तमान अवस्था में भी शुद्ध ही हो तो समझ और पुरुषार्थ करके अशुद्धता को दूर करने का प्रयोजन न रहे।

ऊपर कुछ धर्म कहे गये है। उनमें से सामान्य धर्म तो अभेददृष्टि से वचन द्वारा कहे जा सकते है और कुछ ऐसे भी धर्म है, जो वचन मे नहीं कहे जा सकते, किन्तु ज्ञान में जाने जा सकते है। ज्ञान में प्रत्येक वस्तु के धर्म भलीभॉति जाने जा सकते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म है, उसी प्रकार आत्मा में भी अनन्त धर्म है। उसमें चेतनता असाधारण गुण है। यह गुण अन्य किसी भी पदार्थ में नही है। और फिर दूसरी सूक्ष्म बात यह है कि आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य अनन्त धर्म हैं, जो सब निर्विकल्प हैं। ज्ञातृत्व का लक्षण उन धर्मों में नहीं है। एक ज्ञान गुण ही सविकल्प अर्थात् स्वपर को जानने वाला है। ज्ञान गुण अपने को स्व के रूप में जानता है और पर को पर के रूप में जानता है। शेष गुण भी स्वतन्त्र है। वे अपने को नही जानते तथापि प्रत्येक गुण स्वतंत्र रूप में अपनी प्रयोजनभूत क्रिया को कर सकता है। उन समस्त गुणों को एक ज्ञान गुण जानता है। यह ज्ञातृत्व अन्य अनंत अचेतन द्रव्यो में नहीं है। सजातीय चेतन अर्थात् जीव द्रव्य अनन्त हैं तथापि सबका चेतनत्व भिन्न भिन्न है। क्यो कि प्रत्येक आत्मा के अनन्त धर्म अपने अपने स्वतंत्र है। वे दूसरे चेतन द्रव्यों में नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश भिन्न है, इसलिए कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं

मिल सकता। यह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है, इसलिए उसे आत्मा का तत्व कहा है।

कर्मों के निमित्त की क्षणिक उपाधि वाली स्थिति वर्तमान समय मात्र की है। उसे जो अपना स्वरूप मानता है उस जीव को स्वतंत्र स्वतत्व की प्रतीति नहीं है। किन्तु पर से भिन्न जैसा है ठीक वैसा ही अपने को जाने तथा रागादि रहित पूर्ण शुद्ध ज्ञान-आनन्दमय जैसा है वैसा अपना स्वरूप जाने तो वह अपने स्वाधीन सुख गुण को प्रगट कर सकता है। इसलिये आत्मा का अनन्त गुण ही आत्मा का तत्व है। राग-द्वेष मन, वाणी और देह की प्रवृत्ति आत्मा का तत्व नहीं है।

आत्मा सदा पर से भिन्न रह कर अपने अनन्त गुणों से अभिन्न होने के कारण अपने में व्यापक है, और इसलिए अनन्त गुणों में फैला हुआ है। उसे तत्व रूप से—जैसा है, वैसा ही इस सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है और यदि इस प्रकार समझें तो इस से (इस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति से—सरस्वती से) सर्व प्राणियों का कल्याण होता है। इसलिये 'सदा प्रकाश रूप रहो' इस प्रकार का आशीर्वाद-रूप वचन मात्र पर को नहीं किन्तु अपने परम कल्याण स्वरूप को लक्ष्य में रखकर कहा है।

समयसारजी में अपूर्व अद्भुत की स्थापना की है। यह समयसार शास्त्र परमागम है। यह परम विशुद्धता को प्रगट करने वाला है। यह अजोड़ सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक (अद्वितीय जगत् चक्षु) परमात्म दशा को प्राप्त करने के लिए है। यह सम्यग्ज्ञान के द्वारा दी गई अपूर्व भेंट है। आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इसकी टीका के द्वारा मैं इसका स्पष्टीकरण करूँगा। इसकी टीका करने का फल अपनी वर्तमान दशा की निर्मलता के रूप में चाहता हूँ। पुण्य सत्कार आदि नहीं चाहता।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

महा-महिम भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मेरा ज्ञान व्यापार निर्मल हो, मेरा पूर्ण वीतराग-भाव प्रगट हो। दूसरी कोई आकांक्षा नहीं है। 'इस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा की कथनी तथा टीका से ही मेरी अनुभूतिरूप परिणति की परम विशुद्धि हो' ऐसी भावना भाई है।

शुद्ध आत्मा को जानने वाले ज्ञान अभ्यास की दृढ़ता से रागादि कलुषित भाव का अनुभव दूर होकर उत्कृष्ट निर्मल दशा प्रगट हो, ऐसी भावना करते हैं। ऐसा परमागम मेरे हाथ आया है और उसकी टीका करने का महा सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए उसके विश्वास के बल पर टीकाकार स्पष्ट घोषित करते हैं कि 'इस टीका से मेरी परिणति पूर्णतया निर्मल हो जायगी।'

जैसे पैसे की प्रीति वाला व्यक्ति धनवान के गुण गाता है वह वास्तव में धनवान के नहीं किन्तु अपने ही गीत गाता है। क्योंकि उसे धन की रुचि है। वह उस रुचि के ही गीत गाता है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्मा के अनन्त गुण रुचिकर प्रतीत हुए हैं वह निमित्त में आरोपित करके अपने ही गुण गाता है। वाणी तो जड़ है, परमाणु है। किन्तु उसके पीछे जो अपना शुद्धभाव है वही हितकर है।

आचार्य महाराज अपनी परिणति को सुधारने की भावना करते हैं। मेरी वर्तमान दशा मोह के द्वारा किंचित् मैली है किन्तु मेरा त्रिकाल स्वभाव द्रव्यदृष्टि से मलिन नहीं है इसलिये पूर्ण शुद्ध चिदानन्द अपार सुखरूप है। उसकी प्रतीति के बल पर 'वर्तमान अशुद्धता का अंश दूर हो जायगा' आचार्य महाराज इसका विश्वास दिलाते हैं। इस प्रकार जो कोई योग्य जीव सत्समागम के द्वारा समझेगा वह भी अपनी उत्कृष्ट पवित्र दशा को प्राप्त होगा।

सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसा जाना है, वैसा आत्मस्वभाव कहा है। पूर्ण पवित्र स्वतंत्र स्वरूप जैसा है वैसा वाणी में कहा है। वह परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके इच्छा नहीं है। सहज दिव्यध्वनि खिरती है। वह सर्वज्ञ कथित परम तत्त्व (आत्मा का सच्चा स्वरूप) यहाँ कहा जा रहा है। जीव यदि उस यथार्थता को न जाने तो कदापि बंधन से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता और उसका उपाय प्रगट नहीं हो सकता। उसे समझे बिना यह जीव अनन्तबार पुण्य, क्रियाकाण्ड इत्यादि कर चुका, किन्तु पराश्रय के कारण आत्मधर्म नहीं हुआ।

आत्मा पर से निराला, निर्मल, पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। मन, वाणी और देहादि के सम्बन्ध से रहित त्रिकाल तत्त्व है। आचार्य महाराज इस समयसार शास्त्र की टीका करते हुए कहते हैं कि 'इस टीका के फल स्वरूप मेरी वर्तमान दशा की परम विशुद्धि हो, यही चाहता हूँ।

आचार्य महाराजने महान् गंभीर अर्थशाली स्पष्ट भाषा लिखी है। जैसे एक तार [टेलीग्राम] की डेढ़ पंक्ति में यह लिखा हो कि 'रुई की पांच हजार गांठ चारसौ पचास के भाव में खरीदा' इसे पढ़ने वाला उस डेढ़ पंक्ति में समाविष्ट सारा भाव और तार देनेवाले व्यापारी का साहस इत्यादि सब (जो कि उस डेढ़ पंक्ति में लिखा हुआ नहीं है) जान लेता है। बाजार भाव से अधिक भाव में खरीद करने वाला और खरीद कराने वाला दोनों कैसे हैं? कैसी हिम्मत वाले हैं? इसका परस्पर दोनों को भरोसा है। किन्तु जो अपढ़ होता है, अजान होता है, उसे इसकी खबर नहीं होती। लेकिन जो जानने वाला, पढ़ा लिखा और विचक्षण दृष्टि रखकर पढ़ने वाला होता है, वह दोनों तरफ की दोनों पेढ़ी के सभी भावों को जान लेता है। ४४० का तो भाव चल रहा है, तथापि ४५० के भाव में इतना बड़ा सौदा करने को लिखा है इसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं उठती। यदि कोई अजान पढ़े तो वह उस बात को न माने। दूकान तो छोटीसी लेकर

बैठा हो, और सब कुछ लेकर न बैठा हो, तथापि उनमें सारा वैभव समाविष्ट है। इस प्रकार यदि पढ़ा लिखा हो तो देख सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ के अनन्त आगम का रहस्य डेढ़ पंक्ति में हो तो भी सम्यग्ज्ञानी उसे बराबर जान लेता है। आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी के द्वारा आगत शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश, उसको व्याख्या करते हुए शुद्ध आत्मा ऐसा है, इस प्रकार ही है, यों शुद्ध आत्मा की सच्ची श्रद्धा की दृढ़ता के द्वारा मेरी स्वरूपरमणता अर्थात् एकाग्रता होगी, परम विशुद्धि होगी, इसके लिये मेरी टीका (तत्व की व्याख्या) है। उसके द्वारा स्वयं (आचार्य) अपना परम आनन्द प्रगट करना चाहते हैं।

यथार्थ वक्ता की पहचान करके श्रोताओं को भरोसा रखकर खूब श्रवण-मनन करना चाहिए। मनन करने की पात्रता पहले चाहिए। कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता। किन्तु विनय से उपचारदृष्टि से दिया हुआ कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि वस्तुस्वरूप द्रव्यस्वभाव से देखने पर त्रिकाल शुद्ध ही है। किन्तु वर्तमान में चलने वाली प्रत्येक अवस्था चारित्र मोह के द्वारा निरन्तर मलिन हो रही है। वर्तमान अवस्था में पूर्ण आनन्द नहीं है। (पूर्णदशा कृतकृत्य होने के बाद पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती) कर्म के निमित्त में युक्त होने से जितना परवस्तु की ओर जुड़ने का लक्ष्य करता है उतनी वर्तमान अवस्था मलिन दिखाई देती है। वर्तमान में चलने वाली अवस्था में क्षण क्षण करके अनन्त काल व्यतीत हो गया तथापि वह अशुद्धता अनन्त गुनी नहीं हुई है। जैसे पानी अनन्त काल तक गरम हुआ इसलिए त्रिकाल के लिए गरम नहीं हो गया है, इसी प्रकार आत्मा द्रव्यस्वभाव से नित्य शुद्ध ही है। उसमें वर्तमान अवस्था में क्रोध मान आदि वृत्तियाँ उठती हैं। आत्मा उतना नहीं है, इसलिए वह क्षणिक अशुद्धता का रक्षक नहीं है प्रत्युत नाशक ही है। और अनन्त गुण का स्वभावतः ही रक्षक है। उसे भूलकर जीव यह मानता है कि 'मैं रागी, द्वेषी,

ममता वाला हूं, देहादि संयोग वाला हूँ' किन्तु इससे वैसा पूर्ण नहीं हो गया है। वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से पानी गरम हुआ दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव (उसका नित्य शीतलता का भाव) उष्ण नहीं हुआ है। क्यों कि वह बहुत काल से गरम है तथापि उसी समय उसमें शीतल होने का स्वभाव है इसलिए उष्णता का नाश करके शीतल हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं अपनी भूल से अपने को देहवान और उपाधिवान मानता है, फिर भी वह एकलक्ष्य में शुद्ध हो सकता है।

आत्मा का स्वरूप किस प्रकार है, स्वभाव-विभाव क्या है, पुण्य-पाप का भाव होता है वह क्या है, मेरा एकरूप स्वभाव क्या है? इत्यादि समझ में नहीं आता, इसलिए यह कठिन मालूम होता है। किन्तु वह सब यहाँ पर बहुत सरल रीति से कहा जाता है। पानी का दृष्टांत सरल है। किन्तु आत्मा का सिद्धान्त आत्मा में अनुभव रूप से बिठाना आवश्यक है। कच्चे चने में मिठास भरी होती है। यदि उसे भूना जाय तो, उसके भीतर जो मिठास भरी हुई है वह प्रगट होता है। उसमें जो मिठास थी वह प्रगट दशा में आई है। यदि भाड़ के कड़ाहे, कंकड़ और रेती से स्वाद आता हो तो कंकड़ो को भूनो, उनमें से भी मिठास आनी चाहिए। कच्चे चने में अम्लता विद्यमान है, इसलिए उसका स्वाद नहीं मिलता और वह उग सकता है। किन्तु यदि उसे भून डाला जाय तो वह उग नहीं सकता और उसमें स्वाद भी आता है। इसी प्रकार आत्मा में, शक्तिरूप से पूर्ण आनन्द भरा हुआ है। उसमें वर्तमान अवस्था में निमित्ताधीन होकर अज्ञान के कारण से अम्लता रूपी आकुलता का स्वाद आत्मा को आता है। जैसे चने के भूनने से उसकी कचाई का नाश हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानाभ्यास के द्वारा स्वरूप की दृढ़ता से अज्ञान का नाश हो जाता है। अपनी अप्रतीति ही वास्तव में बन्धन है। 'मैं कर्मों से बद्ध हूँ, परवस्तु मुझे बाधा पहुँचाती है,' यह मानने से 'मैं स्वयं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार मानकर पुरुषार्थ करने का अवकाश नहीं रहता।

आत्मा स्वयं ही अपने अबन्धक भाव को भूलकर बन्धन–भाव करता है और स्वयं ही निज को पहिचान कर अंतरंग स्थिरता के द्वारा अशुद्धता को दूर करता है। जैसे वस्त्र का मूल स्वभाव मैला नहीं है, किन्तु पर–संयोग से वर्तमान अवस्था में मैल दिखाई देता है। यदि वस्त्र के उज्वल स्वभाव का ज्ञान हो जाय तो उस मैल के संयोग का अभाव हो सकता है। इसी प्रकार पहले शुद्ध आत्मा का पूर्ण–पवित्र मुक्तस्वरूप जाने, तो अशुद्धता दूर की जा सकती है। इसलिए यहाँ टीका में मुख्यतया शुद्ध आत्मा का कथन किया गया है। और यों तो इसमें अचिन्त्य आत्मस्वरूप का गुण–गान किया गया है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि—पर के आश्रय, अवलम्बन से रहित जैसा मेरा शुद्ध स्वरूप पूर्ण सिद्ध समान है, उसका दृढ़निश्चय करके और अब तुम्हारी पूर्णशक्ति को देखकर तुम्हें पूर्ण का निश्चय कराता हूँ, उसकी स्पष्ट महिमा गाता हूँ। संसार में प्रशंसा करने वाले की दृष्टि और उसकी कीमत कितनी है यह जानने के बाद उसकी प्रशंसा की कीमत करनी चाहिए। कोई किसी की प्रशंसा वास्तव में नहीं करता, किन्तु जो जिसके अनुकूल बैठता है, वह उसी की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार निन्दा करने वाला भी अपने बुरे भाव को प्रगट करता है। उसमें हर्ष या विषाद कैसा ? सब अपनी अपनी भावना का फल पाते हैं। उसमें दूसरों को क्या है ?

जामें जितनी बुद्धि है उतनो देय बताय।
वाको बुरो न मानिये और कहाँ से लाय॥

अपनी भूल से आत्मा स्वयं दुःखी होता है। आत्मा क्या है, इसकी खबर न होने से, अज्ञानी अज्ञान भाव से निन्दा करता है। उस व्यक्ति का उसमें कोई दोष नहीं है। वह व्यक्ति अर्थात् वह आत्मा क्षणभर में बदल भी सकता है।

आचार्य कहते हैं कि—'मैं अपने अविनाशी शुद्धस्वरूप की शुद्ध-दशा को प्रगट करना चाहता हूँ, जगत की पूजा–ख्याति नहीं चाहता;

क्योंकि कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी सर्वशक्ति से पूर्ण है। उस पूर्ण के लक्ष्य से धर्म का प्रारम्भ होता है।'

अब मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए मंगलसूत्र कहते हैं—

वन्दित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइपत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

अर्थ —आचार्य कहते हैं कि मैं ध्रुव, अचल और अनुपम इन तीन विशेषणों से युक्त गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहूँगा।

यह मंगलमंत्र है। जैसे बीन के नाद से सर्प डोलने लगता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की महिमा का कहने वाला जो समयसार है, उसके कथन से 'मैं शुद्ध हूँ' इस प्रकार के आनन्द में आत्मा डोलने लगता है।

देह, मन और वाणी रूपी गुफा में छुपा हुआ यह आत्मा परमार्थ स्वरूप सर्वज्ञ की दिव्यवाणी का नाद और माधुर्य जानकर अपनी महिमा को ज्ञात करके निजस्वरूप को सुनने और सम्हालने के लिए जागृत होता है। जैसे मंत्र के द्वारा सर्प का विष उतर जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर से भिन्न रागादि सर्व उपाधि रहित, मुक्त है। ऐसी प्रतीति के द्वारा अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी मंत्र के द्वारा अज्ञान रूपी विष उतर जाता है।

संसार की चार अशुभगतियाँ हैं। सिद्धगति पूर्ण पवित्र आत्मदशा है। वह ध्रुव है, अचल है, अनुपम है, इस प्रकार की आत्मा की निर्मल दशा को प्राप्त जो सिद्ध परमात्मा है, उनके लिए जगत के किसी भी पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती। उपरोक्त तीन विशेषणों से युक्त उत्कृष्ट गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे गये इस शुद्धात्मा के अधिकार को कहूँगा, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। 'सर्व' 'अनन्त सिद्ध भगवान हो चुके हैं, यह कहने से सब मिलकर एक आत्मा हो गया यह मानना भी मिथ्या है।

'मैं उनको नमस्कार करता हूँ' इस का अर्थ यह है कि "मैं पूर्ण पवित्रदशा को ही नमस्कार करता हूँ, अन्य भावों की ओर नहीं जाता. संसार की ओर किसी भी भाव से नहीं देखता" इस प्रकार अपने पूर्ण साध्य को नमस्कार करके पूर्ण शुद्धस्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय जो सर्वज्ञ भगवान के द्वारा बताया गया है उसी को कहना चाहते हैं।

श्रुत–केवली= भीतर के भाव ज्ञान में पूर्ण सर्व अर्थ सहित आगम को जानने वाले। 'समय'= पदार्थ अर्थात् आत्मा। प्राभृत = भेंट। जैसे राजा से मिलने के लिए जाने पर उसे भेंट देनी होती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को अनरंग में मिलने के लिए सम्यग्ज्ञान की भेंट देनी होती है। टीका में 'अथ' शब्द मंगलसूचक है। 'अथ' साधकता का द्योतक है। पूर्णता के लक्ष्य से अपूर्व प्रारम्भ बताया है अर्थात् पहले अनन्तबार बाह्य साधनों से जो कुछ कर चुका है यदि वही हो तो वह अपूर्व प्रारम्भ नहीं है। यहाँ पर अपूर्व साधक दशा के प्रगट करने की बात है। संस्कृत में 'अथ' का अर्थ 'अब' होता है। अनन्तकाल से जो मानता चला आ रहा है और जो कुछ भाव करता आ रहा है वह नहीं, किन्तु सर्वज्ञ भगवान ने जो कहा है वह कहता हूँ। 'अथ' शब्द इसी का द्योतक है।

इस अपूर्व प्रारम्भ को समझे बिना यह जीव पुण्य के फल से अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया। मैं स्वाधीन स्वरूप हूँ, पर के आश्रय से रहित हूँ, यह भूलकर जैन के महाव्रतादि भी धारण किये। वस्त्र के एक सूत से भी रहित नग्न दिगम्बरदशा धारण करके उग्र शुभभाव सहित अनन्तबार पंच महाव्रत पालन किये, उत्कृष्ट तप किया। किसी ने अग्नि में जला दिया, तो भी किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। तथापि, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि "ऐसा अनन्तबार करने पर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ। मात्र वह उच्च पुण्य करके स्वर्ग में गया। उसे स्वरूप की पूर्ण

स्वाधीनता की यह बात नहीं जम पाई कि आत्मा पर से भिन्न है और पुण्य-पाप की उद्भूतवृत्ति से परमार्थ में भिन्न ही है। मैं मन की सहायता से शुद्धदशा को प्रगट नहीं कर सकता।"

शास्त्र के प्रारम्भ में सर्वसिद्धों की भावस्तुति और द्रव्यस्तुति करके अपने तथा पर के आत्मा को सिद्ध समान स्थापित करके उसका चिन्तन करते हैं। मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्ति से मैं भिन्न हूँ, इस प्रकार शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर तथा रागवृत्ति से हट कर अन्तरंग में स्थिर होना सो भाव-स्तुति है। शेष शुभभाव रूप स्तुति करना सो द्रव्यस्तुति है। इसमें से पहले अपना आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान है, इस प्रकार अपने को स्थापित करके कहते हैं कि मुझ में सिद्धत्व-पूर्णता है। किसी को भले ही यह छोटे मुंह बड़ी बात मालूम हो किन्तु पूर्ण स्वरूप को स्वीकार किये बिना पूर्णता का प्रारम्भ कैसे होगा?

ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है'। इस सुनकर लोग चिढ़ जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आत्मा को प्रभु कैसे कहा? ज्ञानी कहते हैं-'सभी आत्मा प्रभु हैं।' बाह्य विषय व्यापार में जिनकी दृष्टि है वे आत्मा को प्रभु मानने में इन्कार करते हैं। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ इस प्रकार विश्वास करके 'हाँ' कहो! पूर्णता के लक्ष्य के बिना वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। मैं पामर हूँ, मैं हीन हूँ, यह मानकर जो कुछ करता है उसके परमार्थतः कोई प्रारम्भ नहीं होता। 'मैं प्रभु नहीं हूँ' यह कहने में ... ना ... मैं से 'हाँ' प्राप्त नहीं होती। यदि कोई केंचुए को दूध-शक्कर पिलाये तो वह नाग नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई पहले से ही अपने को हीन मानकर पुरुषार्थ करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। नाग का बच्चा केंचुए के बराबर होने पर भी फुफकारता हुआ नाग ही है। वह शक्तिशाली होता है। छोटा नाग भी फणिधर है। इसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था में भले ही शक्तिहीन दिखाई दे तथापि स्वभाव से तो वह सिद्ध समान पूर्ण-दशा वाला है, इसलिए आचार्य महाराज पहले से ही पूर्ण सिद्ध, साध्य-भाव से लेने को प्रारम्भ करते हैं। उन्हें मिलना जोग है।

लोग भी पूर्ण मांगकर गाना गाते हैं। शादी के समय ममता-भाव से गीत गाये जाते है कि 'मोतियन चौक पुराये' अथवा 'मोतियन थाल भराये'। भले ही घर में एक भी मोती न हो किन्तु ऐसी भावना भाते हैं। इसी प्रकार कहते हैं कि 'हाथी झूमे द्वार पर'। भले ही घर में एक गाय भी न हो। बात यह है कि संसारी जीवों के गीत अपनी ममता, स्नेह और अनुकूलता को लेकर होते हैं। इसी न्याय के अनुसार आत्मा स्वयं परसे भिन्न परिपूर्ण अखण्ड है। इसलिए वह पूर्ण की भावना प्रगट करता है। बाल में कुलाट खाकर विकार में खड़ा है, इसलिए विकार में पूर्ण की तृष्णा प्रगट करता है। 'मोतियन चौक पुराये, मोतियन थाल भराये' अथवा 'हाथी झूमे द्वार पर' इत्यादि अनन्त तृष्णा का भाव भीतर से आया है। स्वयं अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। उससे कुलाट खाकर ऐसे अनन्त तृष्णा के विपरीत भाव करता है।

कभी २ कहा जाता है कि 'आज तो सोने का सूर्य उगा है'। भला यह प्रतिदिन नहीं और आज क्यों? जिस बात की महिमा को जाना, उसी की महिमा के गीत गाता है। उस संसार की वृत्ति को बदलवाकर यहां पर पूर्ण पवित्रता की भावना है। आचार्य देव कहते हैं कि जो अपूर्व आत्मधर्म को चाहता है, उसे 'मैं सिद्ध परमात्मा हूँ' इस प्रकार की दृढ़ता की स्थापना अपने आत्मा में करनी होगी। स्वयं पात्र होकर पूर्ण की बात सुनते ही 'हाँ' कहनी होगी। किन्तु जिसका हुलास और बीड़ी के बिना काम नहीं चलता, उससे कहा जाय कि तू परमात्मा है तो वह इस बात को किस मन से बिठायेगा? 'पुण्य का संयोग भी मुझे नहीं चाहिए, परमाणु मात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार पूर्ण आत्मा के निर्णय के द्वारा अपने आत्मा में और पर आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके कहते हैं कि मैं जिन्हे सुनाता हूँ वे सब प्रभु हैं। यह देखकर प्रभुत्व का उपदेश देता हूँ। आचार्य देव घोषणा करते है कि मैं पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा हूँ

और तुम भी स्वभाव से पूर्ण ही हो, यह बात तुम्हें निस्सन्देह समझ लेनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण प्रभुत्व शक्ति भरी हुई है। ज्ञानी कहते हैं कि उसकी 'हाँ' कहो। उससे इन्कार करने वाला प्रभुत्व दशा को कैसे प्रगट कर सकता है?

प्रश्न—बहुत से लोग कहते हैं कि हम परमात्मा हैं, तब इस सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?

उत्तर—ऐसी बातें करने से अन्तरंग अनुभव के साथ मेल नहीं बैठता। मन के पहाड़े में यह धारणा कर रखा हो कि सात पँचे पैंतीस होते हैं, किन्तु ठीक मौके पर पहाड़े का विचार न रहा करे तो उसका निश्चय किया हुआ ज्ञान किस काम का? इसी प्रकार मैं राग-द्वेष मोह से रहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस प्रकार निरन्तर अखण्ड स्वभाव की प्रतीति न रहे तो मन का धारण किया हुआ विचार किस काम का?

आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ' इस प्रकार

हम भूल रहित पूर्ण आत्मस्वभाव को देखने वाले हैं और ऐसे पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करके उसमें स्थिरता के द्वारा अनन्तजीव परमात्म दशा रूप हो चुके है, इसलिए जो तुम से हो सकता है, वही कहा जा रहा है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य पहले सिद्धों को नमस्कार करके पहली गाथा का प्रारंभ करते है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से सिद्ध समान है। अपने आत्मा में ऐसा निर्णय करके समयसार का स्वरूप कहते हैं। परमात्मस्वरूप सिद्ध पद को अपने आत्मा में और परके आत्मा में स्थापित करके कहूँगा, ऐसा अर्थ 'वन्दित्तु सव्वसिद्धे' में से निकलता है।

प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र सुख लेना चाहता है। उसमें कोई बाधा, उपाधि नहीं चाहता। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। उसमें मन, वचन काय अथवा राग-द्वेष नहीं है। मुक्त स्वभाव वाले आत्मा की पहिचान के साथ महिमा गाई जाती है। निर्धन आदमी धनवान की प्रशंसा करता है। क्योंकि धनवान के बड़प्पन का भाव उसके हृदय में बैठा हुआ है। लक्ष्मी की मिठास अनुकूल मालूम होती है, इसीलिए उस अनुकूलता के गाने गाता है। अंतरंग में जो तृष्णा जमी है, उसके गीत गाया करता है। सामने वाले व्यक्ति की तारीफ कोई नही करता। कहीं कहीं राजा को ईश्वर का अवतार कहा जाता है; किन्तु यह उपमा राजा कहे जानेवाले आदमी के लिए नहीं है, किन्तु उसके (प्रशंसक के) हृदय में राजा के वैभव का प्रभाव है, इसलिए उसकी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार जिसे सहजानन्द पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वभाव के प्रति आदर है, वह सिद्ध भगवान के गीत गाता है। अर्थात् अपने आत्मा में जो पूर्ण सिद्ध स्वभाव जमा लिया है—स्थापित कर रखा है, उसी के गीत गाता है।

आचार्यदेवने अद्भुत मंगलाचरण किया है। अखण्ड जिनशासन को जीवित रखा है। जो स्वतन्त्रता लेना चाहता है, वह ऐसा पद चाहता है जो किसी के आश्रित न हो। सिद्ध को वही वन्दना कर

सकता है जिसके स्वाधीन परमात्मदशा जम गई है। जिसके हृदय में यह बात जम गई है, वही भाव-वन्दना कर सकता है। 'मैं सिद्ध-स्वभाव पूर्ण पवित्र परमात्मा हूँ' ऐसी बात सुनते ही जिसके अन्तरंग में जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है और जो जीव धर्म को समझना चाहता है, उसी की यह बात है। शंका में फँस जाने वाले के लिए नहीं है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। यहाँ वस्तु का अर्थ आत्मा है। आत्मा का स्वभाव, मन, वाणी, देह तथा रागादि-उपाधि से रहित है। ऐसा शुद्ध चैतन्य आत्मा का जो स्वभाव है सो धर्म है। जिसे यह स्वभाव प्रगट करना है वह सिद्ध को पहिचान कर वन्दना करता है अर्थात् राग से किंचित् मुक्त होकर एकाग्र हो जाता है।

प्रश्न—सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसके पूर्ण कृतकृत्य परमात्मदशा प्रगट हुई है, उसे सिद्ध कहते हैं।

भाव-वन्दना—'मैं पूर्ण ज्ञानघन एवं स्वभाव से निर्मल हूँ, ऐसे भाव सहित रागादि का निरसन करके अपने लक्ष में राग रहित अन्तरंग में स्थिर होना सो अन्तरंग एकाग्रता अर्थात् भाव-वन्दना है। शुभलक्षी भक्ति-भाव द्रव्यस्तुति अर्थात् द्रव्य वंदना है। उस द्रव्यस्तुति में यद्यपि अल्प राग का भाव है तथापि वह गौण है। पहले अपने और दूसरे के आत्मा में भी सिद्धत्व स्थापित करके सबको प्रभु के रूप में स्थापित किया है। यही सर्वज्ञ वीतराग का प्रसिद्ध मार्ग है। अहा! कैसी अद्भुत बात है और कैसा अपूर्व उपदेश है। जिसकी पात्रता हो वह 'हाँ' कहे। जो दूसरे में अर्थात् पुण्य-पाप में रुक जाये और पर का अवलम्बन ले तथा इस प्रकार पर की ओर देखने में लग जाये, उसका सच्चा हित नहीं हो सकता। जो अच्छा करना चाहता है अथवा करना चाहता है वह सम्पूर्ण अच्छा करना चाहेगा या अपूर्ण? सब सम्पूर्ण ही अच्छा करना चाहेंगे। इसलिए आत्मा को पूर्ण माने बिना काम नहीं चल सकता। आत्मा को पूर्ण मानने पर ही वह पूर्ण

प्रगट होगा। अच्छा, ठीक, परमार्थ, कल्याण और आनन्द इत्यादि सब निर्मल निरुपाधिक दशा है जो कि अपने में विद्यमान है। जो सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मदशा को याद करते हैं, उसका आदर करते हैं, उनकी आंतरिक दशा परमात्मा के बराबर ही है। मुझे पूर्ण परमात्मस्वभाव ही आदरणीय है। दूसरे पुण्य-पाप का अंश मुझे नहीं चाहिए। नित्य, निरावलम्बी, पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा होने के बाद शुद्धदृष्टि के द्वारा वह सब मार्ग बना लेगा। दृष्टि खुलने के बाद अल्प राग रहेगा, किन्तु गुण को रोकने वाला वैसा राग नहीं रहेगा। यह विश्वास और रुचि वही कर सकता है जिसका शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति से अहंकार उठ गया है। 'मैं पुण्य-पाप, उपाधि रहित, असंग ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ,' जिसे ऐसा ज्ञान है वह सत् के प्रति अपनी रुचि प्रगट करता है। जिसे अन्तरंग में-आत्मा में, परमात्मा की बात जम गई है, वह भविष्य की अपेक्षा से साक्षात् सिद्ध ही है। जिन्हे मुक्ति की बात सुनते ही पसीना आ जाता है और प्रभु कहते ही जो हाय-तोबा मचा देते है, उनके लिये ज्ञानी कहते हैं कि हम सबको प्रभु के रूप में देखकर कह रहे हैं। क्षणिक उपाधि के भेद को सुनकर रुक मत जाओ। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम सिद्ध समान प्रभु हो। जबतक हमको ऐसा विश्वास अपने आप नहीं हो जाता, तबतक सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कही गई बाते तुम्हारे अन्तरग में नही जम सकतीं।

भगवान कुंदकुंदाचार्य कहते है कि मैं तुझे परम-सत्य सुनाऊँगा। उसे श्रवण करते हुए तू एकबार अन्तरंग में इतना स्वीकार कर कि श्रवण सम्बन्धी राग मेरा नहीं है। मैं अरागी, अखण्ड, ज्ञायक प्रभु ही हूँ। दूसरी बात यह है कि जैसे सिद्ध को सुनने इत्यादि की इच्छा नहीं है, उसी प्रकार मुझे भी नहीं है। सिद्ध भगवान का आत्मा जितना बड़ा है, उतना मेरा भी है। ऐसा निर्णय कर। इस प्रकार यह-समयसार शास्त्र (आत्मस्वभाव) का कथन है। इस शास्त्र को भाव वचन से अर्थात् अन्तरंग एकाग्रता से और द्रव्य वचन से अर्थात् शुभभाव से

कहूँगा । इसके बाद कहते हैं कि मैं अनुभव प्रमाण से कहूँगा, उसे अवश्य स्वीकार कर लेना, कल्पना मत करना ।

यहा एक दृष्टान्त देते हैं —

पूर्वभव में द्रौपदी का एक धनिक सेठ के यहाँ विषकन्या के रूप में जन्म हुआ था। उसमें यह विशेषता थी कि जो भी उसे पत्नी के भाव से स्पर्श करेगा, उसके शरीर में विपुल दाह उत्पन्न हो जायगा । इसलिए उस विषकन्या का धनाढ्य पिता विचार करने लगा कि इस कन्या के साथ कौन विवाह करेगा ? अपनी जाति का कोई भी व्यक्ति तो ग्रहण करेगा नहीं।

एक दिन मार्ग में एक पुण्य-हीन भिखारी जा रहा था । उसके वस्त्र फटे हुए, लकड़ी टूटी हुई और भिक्षा-पात्र फूटा हुआ था । तथा उसके शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं । उसे देखकर सेठने विचार किया कि इस भिखारी को अपने घर रखकर अच्छे कपड़े पहनाऊँगा, इसका शृंगार करूँगा और इसे धन देकर अपनी पुत्री के साथ विवाह कर दूँगा । ऐसा विचार करके उसने अपने नौकर को वैसा करने की आज्ञा दी ।

नौकर उस भिखारी को घर में ले आया और उसे नये वस्त्राभूषण पहनाने के लिए उसके फटे-पुराने कपड़ों को उतारने लगा, तब वह भिखारी बड़े जोर से चिल्लाने लगा । उस भिखारी के जो वस्त्र और भिक्षा-पात्र इत्यादि फेंक देने लायक थे, उन्हें नौकर फेंकने लगा कि वह अभागा भिखारी और अधिक रोने-चिल्लाने लगा । सेठ ने उसके रोने का कारण पूछा, तो नौकर ने कहा कि मैं इसका पुराना वेश उतारता हूँ इसलिए यह चिल्लाता है। उसके पुण्य नहीं है, इसलिए वह पहले से ही घर में प्रवेश करने से ही इन्कार कर रहा है और चिल्ला रहा है कि मेरे कपड़े इत्यादि उतारे जा रहे हैं, किन्तु वह यह नहीं सोच सकता कि भले आदमी के घर में बुलाया है तो इसमें कोई कारण तो होगा ?

सेठ ने जान लिया कि भिखारी पुण्य-हीन और अज्ञानी है, तथापि विश्वास उत्पन्न करने के लिए उसका पुराना वेष-भूषा बाहर न फिकवा-कर वहीं एक कोने में रख देने को कहा। पश्चात् उसे स्नान करवाकर और अच्छे वस्त्राभूषणादि पहनाकर लग्न-मण्डप में बिठाया। ज्यों ही उसका विष-कन्या के साथ हस्तमिलाप कराया गया त्यों ही उसके शरीर में विष-कन्या के विष का दाह उत्पन्न हो गया।

भिखारी के पुण्य तो था नहीं, इसलिए उसने विचार किया कि मैं इस कन्या को नहीं रख सकूँगा, इसलिए वह मध्यरात्रि में उठकर उन तमाम नवीन वस्त्राभूषणों को उतारकर और कोने में रखे हुए अपने उन फटे-पुराने वस्त्रों को पहनकर वहाँ से ऐसा भागा जैसे कसाई के हाथ से छूटकर कोई जानवर भागता है।

इस दृष्टान्त से यह सिद्धान्त निकलता है कि संसार की चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करने वाले भिखारियों को देख कर (जैसे उस सेठ ने नौकर को आज्ञा दी थी उसी प्रकार) केवलज्ञानी भगवान ने धर्मसभास्थित मुनियों को आज्ञा दी कि जगत् के जीवों को यह सुनाओ कि सभी आत्मा प्रभु हैं, सिद्धस्वरूप हैं; तुम पूर्ण हो, प्रभु हो, इसलिए तुम्हारा ऐसा स्वरूप नहीं है कि जिससे तुम्हे पर की कोई इच्छा करनी पड़े। पर-पदार्थ की इच्छा करना भिखारीपन है। अधिक माँगे सो बड़ा भिखारी और थोड़ा माँगे सो छोटा भिखारी है। इसी प्रकार सभी जीव परवस्तुओं के छोटे बड़े भिखारी है।

लोग जबतक संसार की प्रतिष्ठा देखते है, धन, घर इत्यादि का संयोग चाहते हैं, तबतक वे सब उस भिखारी के समान हैं। वे बाहर से ऐसे बड़प्पन को ढूँढ़ते हैं कि जिससे कोई हमारी प्रतिष्ठा के गीत गाये, प्रशंसा करे और हम गण्यमान्य लोगो में गिने जाने लगें। ऐसे जो चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करने वाले भिखारी है, उनके लिए शाश्वत् उद्धार का उपाय बताने के लिये तीर्थंकर प्रभु ने संतो से कहा कि जगत् के लोगो से कहो कि तुम प्रभु हो। तुम अपनी पूर्ण स्वाधीन

शक्ति की गरिमा को सम्हालो। हम तुम्हारा, तुम्हारी शुद्ध परिणति के साथ लग्न (लीनता) कराये देते है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने मुनियो से कहा कि इन चौरासी के भिखारियों को बुलाकर उनके हृदय मे उनका सिद्धत्व स्थापित करो और कहो कि तुम प्रत्येक आत्मा प्रभु हो, अनन्त पुरुषार्थ, अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप हो। ऐसी पूर्ण स्वतन्त्रता की बात सुनते ही जो आत्मार्थी है, पुरुषार्थी हैं, उन्हें तो सबसे पहले पूर्ण के प्रति श्रद्धा हो जाती है और वे पूर्ण के प्रति अपूर्व रुचि दिखाकर विशेष समझने का उत्साह दिखाते हैं। और उनका जो विश्वास करते हैं वे स्वाधीन-निज घर मे प्रवेश करते हैं। पश्चात् अल्प-रागरूप अस्थिरता रह जाती है, उसे कैसे टाला जाय? उस पुरुषार्थ को वह सम्हाल लेगा और निरन्तर अपने पूर्ण साध्य के गीत गायेगा। ज्ञानी के पास से सुनकर स्वीकार करके अब आत्मा मे निर्णय करके कहेगा कि मै पूर्ण सिद्ध समान परमात्मा हूं, प्रभु हूँ। उसके पूर्ण सिद्धपद शक्तिरूप मे विद्यमान है। उसकी निर्मलता की परिणति प्रगट करके वह मुक्तदशा के साथ परिणमन करेगा, अखण्ड आनन्द प्राप्त करेगा, किन्तु भिखारी को अनादिकाल से परिभ्रमण करने की रुचि है। यदि उससे ज्ञानी कहे कि आत्मा पुण्य-पाप रहित प्रभु है, उसे शुभ विकल्प की सहायता की आवश्यकता नहीं है, तो वह इसे सुनकर चिल्लाहट मचायेगा कि हाय! हाय! यह कैसे हो सकता है?

किन्तु एकबार तो श्रद्धा पूर्वक कह कि मुझे पुण्यादि कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि सिद्ध परमात्मा मे किसी उपाधि का अंश नहीं है, और मेरा स्वरूप भी वैसा ही है।

पर के लिए जो चाह उत्पन्न होती है वह भी विकारमात्र है, मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार अन्तरंग से एकबार स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो सुनते ही इन्कार कर देता है और चिल्लाता है, उसे संसार में पुण्यादि पराश्रय की मिठास से भटकना अच्छा

लगता है। उसे मुक्त होने की बात नहीं जमती। इसलिए कहता है कि इतने लम्बे समय से हमारा जो किया कराया है, उस सब पर पानी फिरता है। इसलिए हमारे कृतपुण्य की रक्षा करते हुए यदि कोई बात हो तो कहो! किन्तु जो जैसा मार्ग हो उससे विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है? आत्मा तो पर से भिन्न चिदानन्द स्वरूप है। पुण्य-पाप की वृत्ति अथवा दया, हिंसा की वृत्ति तेरा स्वरूप नही है। पहले ऐसा विश्वास कर, फिर शुभ वृत्ति भी आयेगी। किन्तु इसे सुनते ही जो चिल्लाता है, इन्कार करता है, उसके मन में भगवत्ता की मान्यता नहीं जमती।

जैसे पहले भिखारी के पूर्व–पुण्य नहीं था, इसलिए उसके मन में सेठ की बात नहीं जमी, उसी प्रकार ज्ञानी ने अनन्त दुःख से छूटकर अनन्त सुख का उपाय बताया कि वहाँ वह सबसे पहले इन्कार कर बैठता है। क्यो कि उसे अपनी महत्ता का और पूर्णता का विश्वास नहीं है। अन्तरंग में पुरुषार्थ दिखाई नहीं देता, इसलिए वह भविष्य में अनन्त ससार का भिखारी रहना चाहता है। जितना वीर्य पुण्य–पापरूप बन्धन–भाव में लगा रहता है वह आत्मा का स्वभाव नही है। जैसे हिंसा, झूठ, अव्रत आदि अशुभ भाव से पापबन्ध होता है उसी प्रकार दया, सत्य, व्रत आदि शुभ भाव से पुण्य–बंध होता है, धर्म नहीं। मात्र आत्मा के शुद्धभाव से ही धर्म होता है। इस प्रकार पहली बात के सुनते ही अज्ञानी चिल्लाहट और घबराहट मचा देता है तथा कहता है कि इससे तो स्वर्ग या पुण्य भी नहीं रहा; हमें यह प्रारभ में तो चाहिए ही है; उसके बाद भले ही छोड़ने को कहो! किन्तु ज्ञानी कहता है कि उसे श्रद्धा में पहले से ही छोड़ दे। मैं सिद्ध समान हूँ, मुझे कुछ नही चाहिए, इस प्रकार एक बार तो स्वीकार कर, फिर तू राग को दूर करने का उपाय समझे बिना न रहेगा! तू मोक्षस्वरूप है, इसे एकबार स्वीकार कर।

आचार्यदेव मोक्ष का मार्ग जानकर तुझमें मोक्षपद स्थापित करते हैं। इसप्रकार धर्म अर्थात् स्वभाव का निश्चय कर, तो तुझे ऐसी महिमा स्वतः प्रगट हो जायगी कि मैं पूर्ण परमात्मा हूँ। जैसे सिद्ध परमात्मा है वैसा ही तू है। वर्तमान क्षणिक अपूर्णता को न देखकर अपने अविनाशी पूर्ण स्वभाव को देख। यदि ऐसा विश्वास अंतरंग में लाये और उसकी महिमा को समझे तो वह सिद्ध परमात्मा हुए बिना न रहे। किन्तु जिसे पहले से ही यह विश्वास जमा हुआ है कि यहाँ न तो प्रभुता है और न पुण्य के बिना अकेला आत्मा रह सकता है, वह केवली के पास रह कर भी कोरा का कोरा ही रहा। वह क्रियाकाण्ड करके थक गया और पुण्य के भाव में चक्कर लगाता रहा। पुण्य तो क्षणिक संयोग देकर छूट जायगा। उससे आत्मा को क्या मिलने वाला है? मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्यादि की सहायता के बिना अकेला पूर्ण प्रभु हूँ, इस विश्वाससे जिसने अंतरंग में काम नहीं लिया, वह पुण्यादि में मिठास मानकर बाह्य में संतुष्ट होकर रुक रहा है। मुक्ति की श्रद्धा के बिना पुण्य-बंध किया, किन्तु अवसर आने पर सत्य को सुनते ही चिल्लाता है कि ऐसा नहीं हो सकता। उसके मन में यह बात नहीं जमती कि पुण्यादि अथवा परावलम्बन इष्ट नहीं है अथवा कोई पर वस्तु इष्ट नहीं है।

जिसकी रुचि होती है, उसकी भावना की हद नहीं होती। तू अखण्डानन्द अकेला परमात्मा प्रभु ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सुन! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव की यह आज्ञा है कि पूर्ण की रुचि और अपार स्वभाव को स्वतंत्ररूपमें घोषित कर। भाव और द्रव्यस्तुति से मोक्ष के उपाय का प्रारंभ होता है। परम कल्याण स्वयं ही अपने पूर्ण पद को मानने-जानने से और उसमें एकाग्र होने से ही होता है।

यह अद्भुत बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है, उसके सब झगड़े दूर हो जाते हैं। मेरा आत्मा सिद्ध समान प्रभु है और

स्वतंत्र है। यह जानने में विरोध कहाँ है? जिसने सिद्ध परमात्मा के साथ अपना मेल किया उसने यह जान लिया कि वह स्वयं सिद्ध समान है। तब फिर वह किसके साथ विरोध करेगा? सिद्ध में जो नहीं है वह मेरा स्वरूप नहीं है, और सिद्ध में जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। ऐसा परमात्मभाव दिखाई देने पर उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ परिणाम दिखाई देते हैं, उन्हे निकाल देने से मात्र पूर्णस्वरूप रह जायगा। जिस–जिसने अपने पूर्ण परमात्मपद को पहचानकर अपने में उसकी दृढ़ता की स्थापना की है, वह पुण्य–पापादि अन्य किसी की स्थापना नहीं करेगा। लोकोत्तर–स्वरूप के माहात्म्य के लिए सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उन्हे हम अपने आत्मा में स्थापित करते हैं, अखण्ड ज्ञायकरूप, निर्मल, निर्विकल्प, सिद्धत्व मेरा स्वरूप है और वह सदा रहेगा। इसके अतिरिक्त जो शुभ–अशुभ राग की वृत्ति उठती है वह पर है। यह जानकर जिसने यह स्थापित किया कि मैं सिद्धात्मा अशरीरी हूँ, उसने अपने में महा–मांगलिक मोक्ष का प्रारंभ किया है। और अपने को भूलकर पूजा, व्रत, दान इत्यादि में शुभभाव के द्वारा जो कुछ पुण्य किया वह स्वामीभाव से किया है, इसलिए वह पर का बन्धन और अभिमान करता है।

आत्मा शुद्ध ज्ञाता है। उसमें पूर्ण प्रभुत्व को स्थापित किये बिना मुक्ति के लिए तीन काल और तीन लोक में दूसरा कोई उपाय नहीं है।

भाव–वचन का अर्थ है—अंतरंग एकाग्रता। द्रव्य–वचन का अर्थ है शुभभाव और शुभ विकल्प। इन दोनो के द्वारा शुद्धात्मा का कथन किया जायगा।

आचार्य कहते हैं कि यह सिद्ध भगवान, साध्य जो शुद्ध आत्मा है, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है। साध्य का अर्थ है—साधने करने योग्य। जो पूर्ण निर्मलदशा है वह स्वरूप-साध्य है। धर्मी का ध्येय हितस्वरूप आत्मा का सिद्ध स्वरूप है। अशरीरी शुद्ध आत्मा उसका लक्ष्य है। ध्येय का अर्थ है–निशान, साध्य। पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वरूप आत्मा का ध्येय आत्मा स्वयं ही है। जिसने यह निश्चय किया,

यह सिद्ध भगवन्त सिद्धत्व के कारण, शुद्ध आत्मा के प्रतिच्छन्द के स्थान म है। म शुद्ध, चिदानन्द, पूर्ण, कृतकृत्य, परमात्मा हूँ। इसी प्रकार ज्ञान में उठना हुआ ज्ञानभाव स्वभाव की घोषणा के द्वारा कहता है कि हे सिद्धभगवान! आप परमेश्वर है। और उधर सामने से आवाज आती है कि आप परमेश्वर हैं। इस प्रकार मानो प्रतिध्वनित होकर उत्तर आता है। इसी प्रकार सिद्धभगवान प्रतिच्छन्द के स्थान पर है।

हे सिद्धभगवान्! आप मेरे स्वभाव स्वरूप है। हे सिद्ध परमात्मन्! मै आपकी वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार की प्रतिध्वनि ज्ञान म प्रतिच्छन्द के रूप म स्थापित हो जाती है।

सिद्ध तो कृतकृत्य होते है। उन्हे कुछ भी करना शेष नहीं होता। मैं द्रव्यस्वभाव से सर्व जीवो को सिद्ध परमात्मा क समान देखता हूँ। सर्वज्ञ वीतराग जगत के सभी प्राणियों के लिए स्वतत्रता की घोषणा करते है। जो सिद्ध भगवान मे नहीं है, वह मुझमें नहीं है और जो सिद्ध भगवान में है वह मुझमे है। इस प्रकार की निःशक दृढता किसी के साथ बातचीत करते हुए अथवा किसी भी प्रसग पर दूर नहीं होनी चाहिए। किसी भी क्षेत्र मे, किसी भी काल मे आत्मा का विश्वास आत्मा से पृथक् अर्थात् विस्मरणरूप नहीं होता, ऐसी रुचि निरतर रहनी चाहिए। धर्मी अपने को निश्चय से ऐसा ही मानता है कि जैसे सिद्ध परमात्मा के सकल्प-विकल्प अथवा रागादिक कोई उपाधि नहीं होती, वैसे ही मेरे भी नहीं है। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त सुख और अनन्त बल के द्वारा स्वाभाविक तत्त्व हूँ, क्यों कि मै सिद्ध परमात्मा की जाति का हूं। वे अनन्त ज्ञान-आनन्द के रसकन्द हैं, वैसा ही म हूं। इस प्रकार पहिचान कर उनका चिन्तवन करके उन्हीं के समान अपने स्वरूप का ध्यान करके योग्य ससारी जीव उन्हीं जैसे हो जाते है।

ध्यान करके अर्थात् शक्ति में से खींचकर अतरग एकाग्रता के द्वारा अपनी पूर्ण पवित्र दशा को प्रगट करते है।

पर से भिन्न अपने परमार्थ स्वरूप की जो प्रतीति है, सो निश्चय है और पुरुषार्थ के द्वारा मोक्षमार्ग को सिद्ध करना सो व्यवहार है। यहाँ पर-इसमें दोनों कहे गये हैं। पहले मैं सिद्धस्वरूप हूँ, परमात्मा के समान ही हूँ, ऐसी जो द्रव्यदृष्टि है सो निश्चय है और उसमें भाव-बन्धनारूप स्वभाव में एकाग्र होकर अनन्त जीव सिद्ध भगवान के समान हो गये हैं सो मोक्ष का उपाय है। उसे व्यवहार कहा जाता है।

यह अन्तरंग में स्थिर होने की (एकाग्र होने की) ज्ञान की क्रिया कही है। देहादि बाह्य की प्रवृत्ति आत्मा की क्रिया नहीं है, क्यों कि जहाँ गुण हो, वहाँ अवगुण दशा हो सकती है और वह परावलम्बी, क्षणिक विकारीभाव है। स्वभाव की स्थिरता से उसे दूर किया जा सकता है। तीनों काल में एक ही उपाय और एक ही रीति है। अहो! कितनी विशाल दृष्टि है! प्रभु होने का उपाय अपने में ही है! यथा :—

चलते फिरते प्रगट प्रभु देखूं रे!
मेरा जीवन सफल तब लेखूं रे!
मुक्तानन्द के नाथ विहारी रे!
ओधा जीवन डोरी हमारी रे!

पुण्य-पाप इत्यादि जो पर हैं वे मेरे हैं। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, इस प्रकार की मान्यता पाप है। उसे जो हरता है सो हरि है, (हरि=आत्मा)। विशाल दृष्टि का अर्थ है स्वतंत्र स्वभाव को देखने की सच्ची दृष्टि। मैं भी प्रभु हूँ, तुम भी प्रभु हो। कोई एक दूसरे के आधीन नहीं है। इस प्रकार जहाँ स्वतंत्र प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ किसके साथ वैर-विरोध रह सकता है? सबको पवित्र प्रभु के रूप में देखने वाला आत्मा के निर्विकारी स्वभाव को देखता है। वह उसमें छुटाई-बड़ाई का भेद नहीं करता। जगत् में कोई शत्रु उत्पन्न नहीं हुआ है; वैर-विरोध तो अज्ञानभाव से-कल्पना से मान लिया गया है।

स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव में जानने रूप क्रिया होती है। उसे भूलकर पर को अच्छा या बुरा मानकर आकुलता क्यों करता है? हे भाई! इस अनन्तकाल में दुर्लभ मानव-जीवन और उसमें भी महा-पुरुष समागम तथा उनकी वाणी का श्रवण प्राप्त होना है, तथापि अपने स्वतन्त्र स्वभाव को न माने, यह कैसे चल सकता है?

बाप बेटे से कहे कि 'बेटा' यह कमाई के दिन है। यदि अभी न कमायेगा तो फिर कब कमायेगा। अभी दो महीने परिश्रम से बारह महीने की रोटियाँ निकल सकता है। सो यह तो धूल समान है, किन्तु यहाँ त्रिलोकीनाथ वीतराग भगवान कहते हैं कि मनुष्य-जीवन और सत्‌ को सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ है। मोक्ष का मण्डप तैयार है, तेरा सिद्ध-मुक्त स्वभाव है, उसमें तुझे स्थापित किया जाता है। उसमें कुछ भी भेद-विरोध नहीं है। चैतन्य आत्मा के स्वभाव में विरोध नहीं है, इसलिए मेरा स्वभाव भी भेद-विरोध रखना नहीं है, किन्तु अगुणों का नाशक है, क्यों कि सिद्ध में अगुण नहीं है। पूर्ण होने से पूर्व पूर्ण के गीत गाये हैं। जहाँ शंका है, वहीं होना है। ज्ञानी तो प्रभुता को ही देखता है।

आत्मा का पूर्ण अविकारी स्वरूप लक्ष्य में लेना निर्मल परिणामी का डोरी का साध्य (लक्ष्य-ध्येय) शुद्धात्मा ही है। दूसरे के प्रति लक्ष्य नहीं करना है। ऐसे निर्णय के बाद जो अल्प अस्थिरता रह जाती है, उससे गुण का नाश नहीं होने देता। संसारी योग्य जीव का सिद्ध के समान स्थापित किया है। उसका आश्रय होने वाले को बाद में उसमें यह सन्देह नहीं रहता कि मैं एकाग्रता के द्वारा निर्मलभाव प्रगट करके अल्पकाल में साक्षात् सिद्ध होऊंगा।

संकल्प-विकल्प और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं पर से भिन्न हूँ। इस प्रकार स्वतन्त्र स्वभाव को प्रगट करके जाग्रत होता है। उसमें काल और कर्म बाधक नहीं होते। कर्म तो जड़-मूर्तिक है। वे

स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुए हैं। क्यों कि आत्मा सदा अपने रूप में है, पर रूप में नहीं है। जो तुझमें नहीं है, वह तुझे तीन काल और तीन लोक में हानि नहीं पहुंचा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं है। इसलिए कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के हानि लाभ का कारण नहीं है। तथापि विपरीत कल्पना करके विपरीत मान्यता ने घर कर लिया है। जो यह कहता है कि मेरे लिए कर्म बाधक हैं, जड़-कर्मों ने मुझे मार डाला, उन्हें सुधरना नहीं है। तेरी भूल के कारण ही राग द्वेष और विकाररूप संसार है। अपने बड़प्पन को भूलकर दूसरे को बड़प्पन देता है, मानो तुझमें पानी ही नहीं। तू मानता है कि पर तुझे हैरान करता है या कुछ तुझे दे देता है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अपने को पूर्ण और स्वतंत्र प्रभु न माने तो भी स्वयं वैसा ही है। अपने स्वभाव से विपरीत मानने पर भी स्वभाव कहीं बदल नहीं जाता। जो अपने आत्मा को परमार्थतः सिद्ध समान जानकर निरन्तर ध्याता है, वह उन्हीं जैसा हो जाता है। त्रिकाल के ज्ञानी प्रथम ही शुद्ध आत्मा की स्थापना का उपदेश देते है। जो साहूकार होता है, वह सोलहो आना चुकाता है; आठ आने वाले की आड़ नही लेता। वह अशक्त की बात को याद नही करता। वैसे ही मैं पूर्ण निर्मल सिद्ध समान हूँ और वैसा ही होने वाला हूँ। उसमें तीन काल और तीन लोक में कोई विघ्न नही देखता। आत्मा के लिए कर्म बाधक हैं, इस प्रकार चिल्लाहट मचाने वाले को भी याद नही करता, और जानता है कि इस प्रकार सिद्धस्वरूप का ध्यान करके अनन्त जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धगति कैसी है? = ससार की चारों गतियो से विलक्षण (विपरीत लक्षण) पंचमगति अर्थात् मोक्ष है, उसे अनन्त जीवों ने प्राप्त किया है। जिसकी जैसी रुचि होती है वह उसी के गीत गाता है। इसी प्रकार ज्ञानी (धर्मात्मा) जगत् के सुपात्र जीवों को अपने समान—सिद्ध समान बनाते है और कहते है कि ऐसे त्रिकाल अखण्ड स्वाधीनता

के अन्तरिक स्वभाव में से 'हां' कहकर उस बात को श्रवण करने वाले, तथा श्रवण कराने वाले सभी मोक्ष के मोती हैं, तीर्थंकर भगवान ने भी हमारा-तुम्हारा और सबका सिद्धत्व स्थापित किया है।

इस टीका में परम अद्भुत् अलौकिक बातें भरी पड़ी हैं। अपूर्व सत की स्थापना करके सर्वप्रथम मोक्ष का मंगलगान गाया है और यहां समयसार मंत्र है। उसकी घोषणा करके आचार्य महाराज संसार में सोये हुए प्राणियों को जगाते हैं। जैसे बीन के नाद से सर्प जाग्रत होकर आनन्द से डोलने लगता है, उसी प्रकार इस देह रूपी गुफा में त्रिलोकीनाथ आत्मा विराजमान है और तेरी महिमा के गीत गाये जा रहे हैं, तब फिर तू क्यों न नाच उठेगा? तू पूर्ण है, प्रभु है, इसे उमंगपूर्वक सुनकर एकबार मत होकर कहदे कि मुझे इस पूर्ण स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए। सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने तो तेरी स्वतंत्रता के शिवपद की घोषणा की है। जैसे राजा डोंडी पिटवाकर घोषित करता है कि अब यहां मेरा राज्य है, इसी प्रकार ज्ञानी होकर और आत्मवान होकर तू घोषित करदे कि मेरा सिद्धपद का राज्य है और इसमें संसारपद का नाश है। हम पहले गद्दी पर बैठे हैं और घोषणा करते हैं, तू भी ऐसा ही कर।

अहा! पंचम काल में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत बहा दी है। उसके श्रवण का मिठास और माधुर्य का क्या कहना? जिसे सुनते ही तत्त्व के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है कि अहो! ऐसी बात तो कभी सुनी ही न थी। कैसा स्पष्ट बात है! जिसके आत्मा में ऐसी निर्मल-स्पष्ट बात जम गई वह कभी पीछे नहीं रह सकता। मैं देख भाल कर कहता हूँ कि यह स्वीकार कर कि मैं सिद्ध हूं और तू भी सिद्ध है। ऐसे सुपात्र जीव को ही यह रहस्य सुनाया है।

सिद्धगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है। उसे किसी बाह्य साधन या अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। जो परावलम्ब से उत्पन्न होता है वह स्वाभाविक भाव स्वाधीन नहीं कहलाता। इसलिए वह निमित्त

के बिना स्वभाव से उत्पन्न सिद्धगति ध्रुव और निश्चल है; चारों गतियाँ पर निमित्त से अर्थात् पुण्य-पाप से, विकार के कारण संयोग से उत्पन्न होती हैं, इसलिए देव, इन्द्र आदि पद मिले तो भी वह ध्रुव नहीं है। इसलिए चारों गतियाँ नाशवान हैं। और इसलिए इस पंचम गति में विनाशीकता का अभाव है।

और फिर वह गति अचल है। चैतन्य उपयोग में अशुद्धता, चलना जो कि पर निमित्त से अपनी भूल से थी वह अपने स्वभाव की प्रतीति और पुरुषार्थ से सर्वथा नष्ट कर दी गई है। इसलिये अचल गति प्राप्त हुई है। पुनः अशुद्धता आने वाली नहीं है, इसलिए वह गति अचल है। जीव पहले परमात्मदशा में था, पश्चात् अशुद्ध हुआ है सो बात नहीं है। किन्तु अनादिकाल से अपनी ही भूल के कारण आत्मा में संसार दशा थी, उसका आत्मस्वभाव प्रतीति से सर्वथा नाश करके सिद्धगति प्रगट की है। वह कभी पलट नहीं सकेगी, इसलिए अचल है। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ध्रुव, अचल और शुद्ध है, इसलिए यदि स्वभाव के प्रति लक्ष हो तो अशुद्धता नहीं हो सकती। किन्तु यह जीव परलक्ष से विकार करके चारों गतियों में अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। यदि वह एकबार सिद्ध-ध्रुवस्वभाव का आश्रय ले तो विश्रांति मिले। पुण्य-पाप की ओर का जो पर भाव है उसके निमित्त से चौरासी में परिभ्रमण हो रहा था। अब यदि वह स्वभाव के घर में आये तो शांति मिले। अज्ञानी जीव भी अपने द्वारा माने गये कल्पित घर में आकर शांति का अनुभव करते है।

जैसे एक आदमी धन कमाने के लिए परदेश गया। वहां वह एक नगर से दूसरे नगर में और दूसरे नगर से तीसरे नगर में गया, वहाँ उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पश्चात् वह द्रव्य कमाकर अपने घर आया जहाँ उसे विश्रांति का अनुभव हुआ और वह वहाँ पर जम गया, तथा विचार करने लगा कि इस जगह बंगला बनाना चाहिए, क्यों कि मुझे जीवन-पर्यन्त यहीं रहना है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि उसकी

आयु जब पूर्ण हो जायगी और वह यहाँ से कब, कहाँ चला जायगा? ज्ञानी कहते हैं कि वह अपनी लगनी, विचार और प्रवृत्ति के अनुसार दूसरे भव में जायगा। यदि इस समय भव के अभाव का निर्णय न किया तो यह जीवन किस काम का? विपुल द्रव्य कमाया और कदाचित् देवपद प्राप्त किया, तो भी किस काम का? अनेक धर्मात्मा गृहस्थदशा में रहकर भी एकावतारी हो गये हैं। जो सिद्ध भगवान ऐसी गति को प्राप्त हुए हैं, उस सिद्धपद को पहिचानकर उसे हृदय में स्थापित कर वंदना करते हैं। पहिचाने बिना कोरी वन्दना किस काम की?

समयसार अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप है। परनिमित्ताधीन जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती हैं वे मूलस्वभाव नहीं हैं। जैसे-पानी का मूलस्वभाव निर्मल है, उसी प्रकार आत्मा का मूलस्वभाव पवित्र, ज्ञान आनन्दस्वरूप है। मल और आकुलता आत्मा का स्वरूप नहीं है। ज्ञाता, द्रष्टा और स्वतंत्रता भाव क्या है, यह बतलाने के लिए इस शास्त्र की व्याख्या की गई है। पहले 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' कहकर प्रारम्भ किया है। जिसकी पूर्ण पवित्र स्वभावदशा प्रगट हो गई है, उसे मुक्तदशा अर्थात् परमात्मभाव कहा जाता है। उसका अंतरंग में आत्मा में आदर होना चाहिए। जैसा परमात्मा का स्वरूप है वैसा ही मेरा है। मैं उसका आदर करता हूँ। पुण्य-पाप आदि का आदर नहीं करता। इस प्रकार अन्तरंग में निर्णय होना ही प्रारम्भिक धर्म है।

मैं बंध-विकार रहित हूँ। यह निश्चय करते ही मैं परमात्मा-सिद्ध समान हूँ, यह स्थापित किया अर्थात् सिद्धपरमात्मा को ज्ञान में अपने आत्मा में स्थापित किया, उसका आदर करके 'मैं ही ऐसा आत्मा हूँ', इस प्रकार जो दृढ़ निर्णय करना सो प्रथम उपाय है, अथवा बन्धन से मुक्त होने का मार्ग है। सिद्धभगवान यहाँ नहीं आते, किन्तु जिसके अन्तरंग से, ज्ञान में ऐसी श्रद्धा हो गई कि मैं सिद्ध परमात्मा के समान हूँ, उसके विकार का नाश होकर ही रहता है।

श्रद्धा से मैं पूर्ण, परमात्मा, अशरीरी, अबन्ध हूँ; इस प्रकार मोक्ष स्वभाव का निर्णय करने के बाद अल्प राग-द्वेष और अस्थिरता रह सकती है। किन्तु वह उसे दूर करना चाहता है, इसलिए वह रहेगी नहीं; लेकिन दूर हो जायगी। उसके बाद मात्र पूर्ण आनन्द रह जायगा। यह समझकर ध्रुव, अचल, अनुपम गति को अपने में देखकर भाव में एकाग्ररूप वन्दना करता है। जिस मोक्ष गति को सिद्ध भगवान ने प्राप्त किया है वह अनुपम है, अर्थात् जगत् में जितने पदार्थ हैं, उसकी उपमा से रहित है। इसलिए जैसे उनमें कोई उपाधि अथवा कमी नहीं है वैसा ही मैं हूं। इस प्रकार समझ कर परमात्मा की वन्दना करता है। इसलिए वह अपरमात्मत्व-विरोधभाव, राग, द्वेष और अज्ञानभाव को आदर नहीं देना चाहता। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ के साथ मिलाने पर किंचित् उपमा मिल सकती है, किन्तु भगवान आत्मा को जगत् की किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। वह ऐसा परम अनुपम पद है।

अज्ञानी ने जड़ में आनन्द मान रखा है, किन्तु कहीं जड़ में से सुख नहीं आता। मात्र कल्पना से मान रखा है। उस कल्पना से भिन्न अपना शुद्ध चिदानन्दरूप ज्ञातृत्वभाव है। उसीका आदर करे और उस स्वरूप में स्थिरता करे तभी अनुपम मोक्षदशा प्रगट होती है। संसार के किसी पदार्थ की कोई उपमा उस दशा को नहीं दी जा सकती। जैसे—गाय का ताजा घी कैसा है ? यह पूछने पर उस घी को दूसरे पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती, क्यों कि उसकी ताजगी और उसकी मिठास की उपमा के योग्य दूसरा पदार्थ नहीं मिलता। प्रायः सभी को घी प्रारम्भ से प्राप्त है। उसे कई बार चखा है, तथापि उसका स्वाद वाणी में पूरा नहीं कहा जा सकता। तब फिर जो आत्मा परमानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय है, वह वाणी में कैसे आ सकता है ?

आत्मा का स्वरूप अनुपम है, इसलिए उसकी प्राप्ति और उसका उपाय बाह्य साधन से नहीं हो सकता। 'पुण्य की प्रवृत्ति अथवा मन'

वाणी और देह की प्रवृत्ति इत्यादि कोई मेरी वस्तु नहीं है, इसलिए मेरे लिए सहायक नहीं है। हित-अहित का कारण मैं ही हूँ।' इस प्रकार धर्मात्मा अपने शुद्धस्वरूप को पहिचानकर, वन्दना करता है, आदर करता है।

अज्ञानी जीव आमरस और पूरी तथा गुलाबजामुन इत्यादि खाता है, तब खाते खाते चप-चप आवाज होती है, उसमें वह लीन होकर स्वाद मानकर हर्षित होता है। किन्तु वह आमरस, पूरी अथवा गुलाब-जामुन मुँह में डालकर और चबाकर गले में उतारने से पूर्व दर्पण में देखे तो मालूम हो कि मैं क्या खा रहा हूँ? वह कुत्ते की कै (वमन) जैसा दृश्य मालूम होगा। किन्तु रस का लोलुपी स्वाद मानता है और यह नहीं देखता कि मैं गले में क्या उतार रहा हूँ। मिठास की उपमा देकर वह गद्गद् हो जाता है, किन्तु वह नहीं सोचता कि धूल जैसे परमाणुओं की अवस्था का यह रूपान्तर मात्र है। क्षणभर में मिठाई, क्षणभर में जूठा और क्षणभर में विष्टा हो जाता है। इस प्रकार परमाणु की त्रैकालिक वस्तुस्थिति को देखे, तो उसकी पर में सुखबुद्धि न हो। और फिर पर में सुख है, ऐसी अपनी मानी हुई कल्पना किसी अन्य वस्तु में से नहीं आती, किन्तु अपने शुभ गुण को विकृत करके स्वयं हर्ष-विषाद मानता है और अच्छे बुरे की कल्पना करता है। यदि उस विकार को दूर करदे तो पूर्ण आनन्दरूप मोक्षगति आत्मा में से ही प्रगट होती है। उसके लिए कोई उपमा नहीं मिलती। विकार अथवा उपाधिरूप मैं नहीं हूँ, इस प्रकार पहले श्रद्धा से विकार का त्याग करना चाहिए।

जैसे गुड़ और शक्कर दोनों की मिठास का अनुभव होता है और उन दोनों की मिठास का पृथक्-पृथक् अन्तर भी ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वाणी द्वारा उसका सन्तोषकारक वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सिद्धपद ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वह कहा नहीं जा सकता। सबसे अनुपम, आत्मा का पवित्र स्वरूप यह अचिन्त्य पद सबसे विलक्षण है। इस विशेषण से यह बताया गया है कि चारों गतियों में

जो परस्पर किसी प्रकार समानता दिखाई देती है, वैसा कोई प्रकार इस पंचमगति में नहीं है।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; ये चारों गतियाँ सदा विद्यमान हैं, कल्पित नहीं हैं। वे जीवों के परिणाम का फल है। जिसने दूसरे को मार डालने के क्रूर भाव किये उसने अपनी अनुकूलता के साधन के लिए बीच में विघ्न करनेवाले न जाने कितने जीव मार डाले, उनकी संख्या की कोई सीमा नहीं है। तथा मैं कितने काल तक मारता रहूँगा, इसकी भी सीमा नहीं है। इसलिए उसका फल असीम—अनन्त दुःख भोगना ही है। और उसका स्थान है नरक। यह कहीं वृथालाप नहीं है। जो भी प्रतिकूलता को दूर करना चाहता है वह अपने तमाम बाधक-विरोधियों को मारना चाहता है। भले ही मरने वाले अथवा बाधा डालने वाले दो चार हों या बहुत हों, वह सबको नाश करने की भावना करता है। उसके फलस्वरूप नरक-गति प्राप्त होती है। यह कोरी गप्प नहीं है। देह, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मेरे हैं, इस प्रकार जो मानता है, वह पर में ममत्ववान होता हुआ महा हिंसा के भाव को सेवन करता है। क्यों कि उसके अभिप्राय में अनन्त काल तक अनन्त भव धारण करने के भाव विद्यमान है। उन भवों की अनन्त संख्या में अनन्त जीवों को मारने का—उनके संहार करने का भाव है। इस प्रकार अनन्त काल तक अनन्त जीवों को मारने के और उनके बीच बाधक होने के भावों का सेवन किया है। जिसके फलस्वरूप तीव्र दुःख के संयोग की प्राप्ति होती है और वह नरकगति है। लाखों हत्यायें करने वाले को लाखों बार फाँसी होना इस मनुष्यलोक में संभव नहीं है। यहाँ उसे अपने क्रूर भावों के अनुसार पूरा फल नहीं मिलता; इसलिये बहुत काल तक अनन्त दुःख भोगने का क्षेत्र नरक स्थान शाश्वत् विद्यमान है। युक्ति पूर्वक उसे सिद्ध किया जा सकता है। तिर्यंचों के वक्र शरीर होते हैं। उन्होंने पहले कपट या वक्रता बहुत की थी; वे मध्यम पाप करके पशु हुए हैं। मनुष्यों के भी मध्यम पुण्य है। देवों को बहुत से पुण्य का फल प्राप्त है, इसलिए मनुष्यों के

साथ आंशिक पुण्य की उपमा मिलती है। किन्तु पुण्य पाप, और विकार भाव से रहित मोक्षगति अनुपम है। इसलिए उस पचम गति से विरोधी भाव-पुण्य पाप, देहादि की जो क्रिया है उससे मुक्ति नहीं मिलती। क्योंकि जिस भाव से बन्धन मिलता है उसी भाव से मुक्ति नहीं मिल सकती। और उससे प्रारम्भ भी नहीं हो सकता। जिस भाव से मुक्ति होती है, धर्म का प्रारम्भ होता है, उससे किंचित् मात्र बन्धन नहीं होता। इसलिए मोक्ष के मार्ग को भी किसी पुण्यादिक की उपमा नहीं मिलती, क्योंकि पुण्य-पाप की सहायता के बिना वह आतरिक मार्ग है। वह बाह्य क्रियाकाण्ड का मार्ग नहीं है। अत आत्मस्वभाव में धर्म-साधन के लिए प्रारम्भ में ही पुण्य-पाप की उपाधि से रहित पराश्रय-हीन स्वतत्र सिद्ध परमात्मा का स्वभाव ही एक उपादेय है, ऐसा मानना होगा। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसके स्वरूप म स्थिरता करनेरूप अन्तरग क्रिया ही स्वतत्र उपाय है। यह समझकर अतरग म स्थिर हो जाना चाहिए। यह अतरग स्वाभाविक क्रिया है। निर्णय में पूर्ण स्थिरता उपादेय है, किन्तु साधक एक साथ सारी स्थिरता नहीं कर सकता, इसलिए क्रम होता है। मोक्षमार्ग की भी बाह्य शुभप्रवृत्ति के साथ कोई समानता नहीं है। इसलिए मोक्ष और मोक्षमार्ग को कोई उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि दोनों स्वरूप और आत्मा के परिणाम आत्मा मे ही है। मोक्ष और मोक्ष का उपाय दोनों पराश्रयरहित स्वतत्र है। पर से भिन्न जो मुक्तिस्वरूप अपने मे निश्चय किया, उसमें मन, इन्द्रिय इत्यादि कोई बाह्य वस्तु साधन नहीं है। इसी प्रकार उसके चारित्र में भी समझना चाहिए। इसलिए मोक्ष के साधनरूप में, अन्तरग में तू है और साध्य-पूर्ण पद में भी तू है। उसकी श्रद्धा, उसका अतज्ञान और उसरूप स्थिरता का चारित्र एव उसकी एकता और उसके फल इत्यादि के लिए कोई उपमा लागू नहीं होती।

मोक्षगति का नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम वर्ग हैं। उनसे रहित अपवर्ग कहलाता है।

यहाँ पर वर्ग, आत्मा के स्वभाव के अर्थ में नहीं किन्तु पुण्य के अर्थ में है। दया, दान, व्रत इत्यादि पुण्यभाव हैं। मोक्षगति और उसके प्रारम्भ का मार्ग पुण्यादि शुभ से परे है। हिंसादि पापों को छोड़ने के लिये शुभभाव के द्वारा पुण्य होता है। वह भी आन्तरिक धर्म में सहायक नहीं है। अर्थात् रुपया पैसा भी ममता का वर्ग है।

काम अर्थात् पुण्यादि की इच्छा भी एक वर्ग है। यह सभी वर्ग संसार सम्बन्धी है। काम भोग की वासना से मोक्षगति भिन्न है। ऐसी वर्ग से भिन्न मोक्षरूप, शुद्ध, सिद्ध कृतकृत्य पंचमगति है। इस प्रकार अन्तरंग में निश्चय करके स्थिर होनेवाले अनन्त आत्मा उस गति को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुम भी अन्तःकरण में अर्थात् ज्ञानस्वरूप में सिद्ध परमात्मदशा को पहिचान कर उसका आदर करो, तो उसमें स्थिरता के द्वारा मोक्षदशा प्रगट होगी। रुपये-पैसे से, पुण्य से, अथवा पर के आश्रय से अविकारी आत्मा का स्वभाव नहीं मिलता। किन्तु यदि कोई आत्मा को समझे तो उससे मिलता है। सम्पूर्ण स्वतंत्रता की यह कैसी सुन्दर बात कही है!

ऐसे सिद्ध परमात्मा की पहिचान कराके, स्व-पर के आत्मा में सिद्धत्व को स्थापित करके, पुण्य-पाप से रहित-पराश्रय रहित, शुद्ध आत्मा का ही आदर करने को कहा है। यहाँ पर प्रथम निर्णय या श्रद्धा करने की बात है। पश्चात् राग-द्वेष घटाने का कार्य और अंतरंग स्थिरता अर्थात् चारित्र क्या है यह स्वयमेव समझ में आ जायगा; और उससे राग को दूर करने वाले ज्ञान की क्रिया अवश्य होगी। किन्तु आत्मा की सत्ता कैसी होती है यह ज्ञान न हो तो उपयोग अन्यत्र चक्कर लगाता रहता है। और मानता है कि मैंने इतनी क्रिया की है इसलिए मुझे धर्मलाभ होता है। किन्तु ज्ञानी इसे नहीं मानता और कहता है कि हे भाई! पहले तू अपने को समझ। आचार्यदेव ने ग्रन्थ का बहुत ही अद्भुत प्रारंभ किया है। और कहा है कि पहले सच्ची समझ को पाकर अपनी स्वतन्त्रता का निर्णय कर। इससे तुझमें पूर्णता का स्थापन किया है।

कोई कहता है कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात हुई। अभी मुझमें कोई पात्रता नहीं है और, मुझे भगवान बना देना चाहते हैं? किन्तु अभी 'हाँ' कह कर उसका आदर तो कर। तू परम शुद्धस्वरूप है। थोड़ी सी बात में (अच्छे-बुरे में) अटक जाने से तुझे शुद्ध आत्मा का प्रेम कहाँ से हो सकता है? जिसे देहादि में अत्यधिक आसक्ति है, उसे ऐसा पवित्र ज्ञाता-दृष्टा पूर्ण आनन्दस्वरूप कैसे जमेगा? किन्तु एकबार तो इस ओर कुलांट लगा! यदि सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये सत्य को सुनना चाहता है तो यह स्वीकार कर कि जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र है वैसा ही तू भी है। इसे स्वीकार कर, इन्कार मत कर! पूर्ण का आदर करने वाला पूर्ण हो जायगा। मैं विकार रहित हूँ और तू भी विकार या उपाधि रहित ज्ञानानन्द भगवान है। इस प्रकार अपने आत्मा में भगवत्ता स्थापित करके—सिद्धों की तरफ मोक्षगति करनी है, यह सुनाते हुए आचार्य देव मोक्ष-मंडली का प्रारम्भ करते हैं। और कहते हैं कि अब परमपूज्य सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्व को कहता हूँ, सो सुनो।

समय का प्रकाश अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थ का वर्णन करने वाला जो प्राभृत यानी अर्हंत प्रवचन का अवयव (सर्वज्ञ भगवान के प्रवचन का अंश) है उसका मैं अपने और तुम्हारे मोह तथा कालुष्य का नाश करने के लिये विवेचन करता हूँ।

जिनमें रागद्वेष, अज्ञान नहीं है वे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा हैं। उनके मुखकमल से (वाणी से) साक्षात या परम्परा से जो प्रमाणरूप मिला है उसे ही मैं कहूँगा, कुछ अपने घर का—मनमाना नहीं कहूँगा। जैसे, कोई मकान खरीद कर दस्तावेज लिखवाता है, तो उसमें पूर्व, पश्चिम आदि की निशानी लिखवाता है, और इस प्रकार तमाम प्रमाणों को निश्चित कर लेता है। उसमें चाहे जिस भाषा के दस्तखत नहीं चल सकते। इसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ के आगम-प्रमाण से यह 'समयप्राभृत' शास्त्र कहूँगा। मुझे कुछ मनमाना, अपना या अपने घर की बात नहीं कहना है, किन्तु जो कहूँगा वह साक्षात और परम्परा से

आगन परमागमसे ही कहूँगा। उसमें सम्पूर्ण प्रमाणपूर्वक सम्पूर्ण सत्य बताऊँगा। जैसे दोज का चन्द्रमा तीन प्रकारों को बताता है—दोज की आकृति, सम्पूर्ण चन्द्रमा की आकृति और कितना विकास शेष है; इसी प्रकार यह परमागम आत्मा की पूर्णता, प्रारंभिक अंश और आवरण को बतलाता है। अनादि, अनन्त, शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थों को साक्षात् जानने वाले सर्वज्ञ के द्वारा प्रमाणित होने से, अर्हन्त भगवान के मुख से निकले हुये पूर्ण द्वादशांग भाग को प्रमाण करके अनुभव प्रमाण सहित कहते हैं; इसलिये वह परमागम सफल है। उसमें जगत् के सर्व पदार्थों का विशाल वर्णन है। ऐसी वाणी साधारण, अल्पज्ञ प्राणी के मुख से नहीं निकल सकती।

जहाँ दो चार गाड़ी ही अनाज उत्पन्न होता है उसके रखवाल को अधिक अनाज नहीं मिलता, किन्तु जहाँ लाखों मन अनाज पैदा होता है उसके रखवाल को बहुत सा अनाज मिल जाता है, इसी प्रकार जिसके पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट नहीं हुई है ऐसा अल्पज्ञ ज्ञानी थोड़ा ही कह सकता है, और उसके रखवाल (श्रोता) को थोड़ा ही प्राप्त होता है, तथा दोनों को एक सा ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के केवलज्ञान की खेती हुई है, इसलिये वहाँ अनन्त भाव और महिमा को लेकर वाणी का बोध खिरता है। उसके सुनने वाले—रखवाल गणधरदेव हैं। वे बहुत कुछ ग्रहण करके ले जाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान, तीर्थंकर, देवाधिदेव का प्रवचन निर्दोष है। उनकी सहज वाणी खिरती है। मैं उपदेश दूँ, इस प्रकार की इच्छा उनके नहीं होती। जैसे मेघ की गर्जना सहज ही होती है उसी प्रकार 'ॐ' की भी सहज ध्वनि उद्भूत होती है; वह द्वादशाग सूत्ररूप में रची जाती है। उसे जिनागम या जिनप्रवचन कहा जाता है। उस शास्त्र के फलस्वरूप हम अनादिकाल से उत्पन्न मोह, राग, द्वेष आदि का नाश होना कहेंगे। संसार में पुण्य, देह, इन्द्रिय आदि मेरे हैं, यह अनादिकालीन अज्ञानभाव है। यह बात नहीं है कि जीव पहले शुद्ध आनंदरूप

था और बाद में अशुद्धदशा वाला हो गया है। अवस्था में-पर में अहपने को लेकर अशुद्धता भी है, और त्रिकाल द्रव्यस्वभाव में पूर्ण शुद्धता भी है। इसका वर्णन आगे अनेक प्रकार से आयगा। यह वर्णन स्व-पर के मोह का नाश करने के लिये है। इस शास्त्ररचना में पुनरानें, मान-बड़ाई तथा मतमतांतर की बाड़ बाँधने का अभिप्राय नहीं है।

परिभाषण का अर्थ है-यथास्थान अर्थ के द्वारा वस्तुस्वरूप को सूचित करने वाली शास्त्र रचना। पुरुष की प्रामाणिकता पर वचन की प्रामाणिकता निर्भर है। केवलज्ञानी निर्दोषस्वरूप निश्चित होने पर उनके वचन से परमार्थ- सत्यस्वरूप जाना जा सकता है। शब्द से अर्थ ज्ञात होता है। जैसे 'मिश्री' शब्द से मिश्री नामक पदार्थ का ज्ञान होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की वाणी से वाच्य पदार्थ का स्वरूप ज्ञात होता है। आगम का अर्थ है, ज्ञान की मर्यादारूप, पूर्णस्वभावरूप मर्यादा। वह जैसा है वैसा ही बतलाती है। यह समयसार शास्त्र अनेक प्रकार से सर्वोत्तम प्रमाणता को प्राप्त है।

किन्तु जिसकी बुद्धि में राग है उस शास्त्र की बात नहीं जमती, वह निषेध करता है। वादविवाद या तर्क से वस्तु का पार नहीं आ सकता। पत्थर की कसौटी हो तो सोने का कारण हो, किन्तु कोरने पर सोने का परीक्षा नहीं हो सकता। उसी प्रकार सर्वज्ञ के अपूर्व न्याय (वचन) पात्र जीवों को हृदय की परीक्षा के द्वारा निश्चित होते हैं। वादादी अपात्र से निश्चय नहीं हो सकता। आचार्यदेव शास्त्र की वह-प्रतिष्ठा करते हुये कहते हैं कि "सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है और यह अनादि-अनन्त परमागम शास्त्र चला आ रहा है, उसी का यह भाग है।' मनुष्य की समझ में नहीं आता तब वह कहता है कि-दब गया है, वह मिथ्या है, इत्यादि। किन्तु किसी के कहने से कुछ मिथ्या नहीं हो जाता।

पहले अनन्त भव धारण किये है, उनमें यह बात अनन्त काल में भी कभी सुनने को नहीं मिली कि आत्मा पर से निराला है। यदि कभी अच्छा समागम मिलता है, सत्य सुनने को मिलता है तो सबसे पहले इन्कार कर देता है। जैसे लक्ष्मी टीका करने आती है तो अभागा मुँह धोने चला जाता है, इसी प्रकार वह ऊँची बात सुनकर मोक्ष की बात सुनकर पहले ही इन्कार करता है कि हम तो पात्र नहीं हैं; किन्तु आचार्यदेव सबकी पात्रता बनाते हुये कहते हैं कि तुम अनन्तज्ञानस्वरूप भगवान हो, स्वतंत्र हो।

जैसे बहुत समय से पानी गरम किया हुआ रखा हो तथापि वह सारा का सारा उष्णरूप नहीं हो गया है; उष्ण अवस्था होने पर भी उसका शीतल स्वभाव विद्यमान है। यदि वह चाहे तो जिससे गरम हुआ है उसी को मिटा सकता है। अग्नि को बुझाने की शक्ति पानी में कब नहीं थी? वह तो उष्ण होकर भी अग्नि को बुझा सकता है; अपने स्वभाव को व्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा त्रिकाल पूर्णज्ञान-आनन्द स्वरूप है। देह, इन्द्रिय, राग-द्वेष और पुण्य-पाप की उपाधिरूप नहीं है। जड़कर्म के निमित्ताधीन वर्तमान क्षणिक अवस्था में राग की तीव्रता मालूम होती है, उसे नष्ट करने की शक्ति आत्मा में प्रतिक्षण स्वाधीन-तया विद्यमान है। इसलिये यह बात स्पष्ट समझ में आ जायगी कि जैसे गर्म पानी का घड़ा यदि टेढ़ा हो जाय और अग्नि पर कुछ गर्म पानी गिर जाय तो अग्नि बुझ जाती है, और फिर शेष पानी ठण्डा हो जाता है; और तब पानी के स्वभाव पर विश्वास जम जाता है। कोई कहता है कि हम तो कर्म के संयोग के वश में पड़े हुये हैं, क्या करें; कर्मों का जोर बहुत है, कर्म हैरान करते हैं; किसे खबर है कि कल कर्म का कैसा उदय आयगा! इसलिये हमें तो रुपये-पैसों की सम्हाल करनी चाहिये; इत्यादि।

इस प्रकार जो कर्म दिखाई नही देते उनका तो विश्वास है और स्वयं सबको जानने वाला होने पर भी अपना विश्वास नहीं करता! भविष्य

के फल की कारणरूप शक्ति का विश्वास करता है, पर का विश्वास करता है और इधर अपनी सुध नहीं है। इसलिये सत् की बात सुनते ही कह उठता है कि हम अभी पात्र नहीं हैं। अब आचार्यदेव उन्हीं को उपदेश देते हैं जो यह स्वीकार करें कि आत्मा त्रिकाल, पर से भिन्न, पूर्ण है और सिद्ध भगवान के समान है। पहले श्रद्धा में पूर्ण का आदर करने की बात है। अनन्त जीव इसे स्वीकार करके मोक्ष गए हैं। शास्त्र में कथा है कि 'काल का कठियारा अपूर्व प्रतीति करके ४८ मिनिट में मोक्ष गया, इसी प्रकार और भी अनन्त जीव मोक्ष गए हैं, उन्हें तो याद नहीं करता और कर्म को यह कहकर याद किया करता है कि ढके-मुँदे कर्मों की किसे खबर है? ऐसे अपात्र जीवों को यहाँ नहीं लिया है। जिन्होंने ज्ञानी से सुनकर आत्म-प्रतीति की है कि 'अहो! मैं ऐसा शुद्ध पूर्ण आत्मा हूँ, मेरी भूल से अनन्त शक्ति रुकी हुई थी, ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के द्वारा ४८ मिनिट में ही अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। उनके हजारों दृष्टांत शास्त्रों में विद्यमान हैं। उनका स्मरण करके मैं भी वैसा हो जाऊँ' इस प्रकार विश्वास लाना चाहिये। किन्तु अज्ञानी जीव उसका निर्णय नहीं करता और पर का निर्णय करता है। जो बात जम गई है उसी के विश्वास के बलपर उसमें सम्मानित चित्त को वह याद नहीं करता। परवस्तु का तो विश्वास है, किन्तु तू उससे भिन्न, अखण्ड, ज्ञायक तत्त्व है यह सुनाने पर भी उसका विश्वास अथवा रुचि नहीं करता, और कहता है कि 'हम पात्र नहीं हैं!' छूटने की बात सुनकर हर्ष क्यों नहीं होता? योग्य जीव तो तत्व की बात सुनकर उसका बहुमान करता है कि जितनी प्रशंसा के गीत शास्त्र में गाये जाते हैं, वह मेरे ही गीत गाये जाते हैं।

सूक्ष्मबुद्धि के बिना सर्वज्ञ का कथन नहीं पकड़ा जाता, जैसे मोटी सली से मोती नहीं पकड़ा जाता। इसी प्रकार स्वयं जैसा है वैसा समझने की रीति भी सूक्ष्म है। वह भूलकर दूसरा सब कुछ करे, किन्तु उसका फल संसार ही है। इस अवतार को रोकने के लिये अनन्त-तीर्थंकरों ने पुण्य-पाप रहित की श्रद्धा, उसकी समझ तथा स्थिरता का

उपाय कहा है। उसे तो नहीं समझता है और कहता है कि 'हमें यह कथन बारीक मालूम होता है, यह नहीं समझा जाता।' यह बात सज्जन के मुख से शोभा नहीं देती; इसलिये मुक्तस्वभाव का ही आदर कर। मुक्तस्वभाव का आदर करने वाला कर्म अथवा काल का विघ्न नहीं गिनता। यह सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र है अर्थात् केवली भगवान के द्वारा यह शास्त्र कहा गया है और उनके पास रहने वाले साक्षात् श्रवण करने वाले संत-मुनियों की परम्परा से समागत है। तथा केवली के पास रहते हुये साक्षात् श्रवण करने वाले अथवा स्वयं ही अनुभव करने वाले श्रुतकेवली गणधरदेवों से कहा हुआ होने से (जैसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा वैसा ही सुना और उनसे आया हुआ परमागम शास्त्र होने से) यह आगम प्रमाणभूत है। इसलिये कई लोग जैसे निराधार पौराणिक बातें करते हैं, वैसी कल्पना वाला यह शास्त्र नहीं है।

इस प्रकार पहली गाथा में आत्मस्वभाव का जो वर्णन किया है, उसकी प्रमाणता बताई है। उसमें साध्य-साधकभाव तथा अनंत आत्माओं में से प्रत्येक आत्मा पूर्ण प्रभु है, स्वतन्त्र है, यह स्थापित किया है। यदि कोई कहे कि आत्मा मोक्ष जाकर वापिस आजाये तो क्या हो? उसकी यह शंका वृथा है। क्यों कि यहाँ पर भी अल्प-पुरुषार्थ से जितना राग छेदता है उसे फिर नहीं होने देता, तो फिर जिसने पूर्ण रागद्वेष का नाश करके अनंत-शक्ति प्रगट की है वह फिर से राग क्यों उत्पन्न होने देगा? और जब राग नहीं होता तो फिर वापिस कैसे आयेगा? मोक्ष जाकर कोई वापिस नहीं आता। एकबार यथार्थ पुरुषार्थ किया कि फिर पुरुषार्थ नहीं करना होता। मक्खन का घी बन जाने पर फिर उसका मक्खन नहीं बन सकता। इसी प्रकार एकबार सर्व-उपाधि और आवरण का विनाश किया कि फिर संसार में आना नहीं होता। इसलिये जिनने ध्रुवगति प्राप्त की है उनमें चार गतियों से विलक्षणता कही गई है और उनकी अचलता कहकर संसारपरिभ्रमण का अभाव बताया गया है; तथा अनुपम कहकर उन्हें संसार की उपमा से रहित बताया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपनी कल्पना से कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु जो सर्वज्ञ वीतराग से आया हुआ है उस मूलशास्त्र का रहस्य आचार्य परंपरा से चला आरहा है, और जो सर्वज्ञ कथित है तथा जो अर्थ को यथास्थान बताने वाला है, ऐसा परिभाषण-सूत्र कहूँगा।

आचार्यदेव ने मंगल के लिये सिद्धों को नमस्कार किया है।

मंगल (मग+ल) मग = पवित्रता, ल = लाये। अर्थात् जो पवित्रता को लाता है सो मंगल है। आत्मा की पूर्ण पवित्रता आत्मभाव से प्राप्त होती है, वह भाव मांगलिक है। आत्मा ज्ञानानंद, अविकारी है, उसे भूलकर रागादि में अहंभाव या ममकार करता है, उस ममतारूपी पाप को आत्मस्वभाव की प्रतीति से टालकर जो पवित्रता लाता है सो मंगल है। सर्व उपाधियों से रहित पूर्ण शुद्ध सिद्धको ही-पूर्ण साध्य को ही नमस्कार करता हूँ। अर्थात् उस वास्तविक स्वभाव का ही आदर करता हूँ और उससे विरुद्ध भाव का (पुण्य पाप इत्यादि का) आदर नहीं करता।

इन्द्रों के पास बहुत वैभव है तथापि वे वीतरागी और त्यागी-मुनियों का आदर करते हैं। इसके अर्थ में 'हमें जो संयोगी वस्तु मिली है उसका हमारे मन में आदर नहीं है,' यह समझकर शुद्धात्मा का आदर करता है वही यथार्थ वंदना है, शेष सब रूढ़िगत वंदना है। 'पर के संबंध से रहित, अखंड, ज्ञानानंद, पवित्र, जो परमानंद वीतरागपना है सो सत्य है,' ऐसा निश्चय करके जो उसका आदर करता है तभी वह वंदना करने वाला, उस भाव में सच्ची वंदना करता है और शुभ-अशुभ विकार-विरोधभाव का आदर नहीं करता। इस प्रकार अविरोध की 'अस्ति' में विरोधभाव की 'नास्ति' आगई।

संसार में-चौरासी में परिभ्रमण करते हुये आत्मा को शुद्ध-आत्मा ही साध्य है। स्त्री पुत्रादि में संसार नहीं है, किन्तु आत्मा की अज्ञान, रागद्वेषरूप वर्तमान एक अवस्था में संसार है। वह विपरीत अवस्था जीव

में होती है, वह विकारी अवस्था है। आत्मा में ममारदशा और सिद्ध-निर्मलदशा दोनो होती हैं।

जड़ के संसार नहीं होता, क्यों कि उसे सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता और उसमें ज्ञातृत्व भी नहीं है, इसलिये मैं देहादि, रागादि से भिन्न हूँ, इस प्रकार स्वरूप को समझे बिना देह, इन्द्रिय, पुण्य-पाप इत्यादि में जो अपनेपन की दृष्टि होती है वही अज्ञानभाव है; और उसी को परमार्थ से संसार कहा है। संसारभाव कहा है यह निश्चय करो! जैसे मिश्री शब्द के द्वारा मिश्री पदार्थ का ज्ञान होता है इसी प्रकार संसार शब्द भी वाचक है। उसका वाच्यभाव यह है कि परवस्तु मेरी है, पुण्य पाप और देहादि की क्रिया मेरी है और इस प्रकार अपनेपन की मान्यता ही संसार है। इस विकार अवस्था में शुद्ध आत्मा साध्य है। पानी अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्थारूप हुआ है। उस उष्ण अवस्था के समय भी पानी की शीतलता पानी में रहती है। संसारी जीव को अज्ञान-आकुलता से रहित निराकुल, शान्तस्वभाव साध्य है। जैसे तृषातुर को उष्ण जल में से शीतल स्वभाव प्रगट करना साध्य है। इसी-प्रकार यदि गरम पानी में शीतलता के गुण को माने तो फिर पानी को ठंडा करने का उपाय करके प्यास भी बुझा सकता है। इसी प्रकार वर्तमान पर्याय में अशुद्धतारूप उष्णता के होने पर भी चैतन्य द्रव्य स्वभाव से शुद्ध-शीतल है, यह माने तो उष्णता को दूर करके शीतलता को भी प्रगट करने का उपाय कर सकता है।

निमित्त पर दृष्टि न दे तो अशरीरी, अविकारी, अनादि-अनन्त, पूर्ण-ज्ञानानन्दघन है। उस शुद्धता का अपार सामर्थ्यरूप आत्मतत्व भरा हुआ है, वह शुद्ध आत्मा साध्य है। आत्मा में त्रिकाल शक्ति से शुद्धता है। और वर्तमान में रहने वाली प्रत्येक अवस्था में निमित्त के आधीन विकार भी है। विकार के कहते ही अविकारी का ज्ञान हो जाता है, क्यों कि आत्मा अकेला विकारी ही हो तो अविकारी नहीं हो सकता। जैसे भैंस खूँटे के बल पर घूमती है, लोग उसे न देखकर भैंस की क्रिया का

बल देखते हैं, किन्तु अक्रिय खूँटा जो वहाँ विद्यमान है उसके बल को नहीं देखते। इसी प्रकार लोग बाहर से चालू क्रिया को ही देखते हैं, वे पुण्य-पाप की वृत्ति से उत्पन्न विकार को ही देखते हैं, किन्तु अक्रिय, शुद्ध, त्रिकाल आत्मा को नहीं देखते। आत्मा त्रिकाल विकाररहित अक्रिय खूँटे की तरह स्वभावरूप से विद्यमान है, उसे न देखकर क्षणिक पराश्रितवृत्ति की क्रिया को देखते हैं, और जो त्रिकाली एकरूप आत्मा शुद्धशक्ति में विद्यमान है उसे नहीं देखते। राग–द्वेष और मोह के आधीन होने वाला क्षणिकविकार नाशवान है और सर्व उपाधिरहित अबाधित ज्ञायकतत्त्व अविनाशी है, इसलिये वही आदरणीय है। जो उसे साध्य करता है वह सिद्ध होता है और जो रागद्वेष की क्षणिक वृत्ति के बराबर आत्मा को मानता है वह वर्तमान सक्रियता पर अटक जाता है और संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये प्रथम ही शुद्धता की स्थापना करके उसी को साध्य बनाने का उपदेश है। यह बात अनन्त काल में जीवों ने नहीं सुनी, व बाह्यक्रिया या पुण्य की क्रिया में सन्तुष्ट हो रहे हैं। धर्म के नाम पर बाह्यक्रिया तो अनन्तबार की है और उससे शरीर को सुखाया है, किन्तु शरीर के सूख जाने से आत्मा को क्या लाभ है? पर के अवलम्बन से तो धर्म माना, किन्तु यह नहीं माना कि मैं पर से भिन्न स्वतन्त्र हूँ। आत्मा अरूपोगी तत्त्व है, अनादि-अनन्त है। जो है उसका भविष्य में अन्त नहीं है। संसार की विकारी अवस्था क्षणिक है। वर्तमान एक समयमात्र की अवस्था में परनिमित्ता-धीन भाव से युक्त होता है, वह क्षणिक अवस्था उत्पन्न-ध्वंसी है, उसके लक्ष को छोड़कर त्रिकाल शुद्धस्वभावी परमात्मस्वरूप को साध्य बनाने की आवश्यकता है, और वह संपूर्ण सुखस्वरूप होने से संसारी जीवों के लिए ध्येयरूप है।

जैसे पानी में उष्ण होने की योग्यता के कारण अग्नि के निमित्त से वर्तमान उष्णता है, उसी प्रकार संसारी जीवों में अपनी योग्यता के कारण क्षणिक अशुद्धता है, उसका अभाव करने वाला साध्यरूप जो

शुद्धात्मा है वही ध्येय—ध्याने योग्य है। और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा हैं, इसलिये उनको नमस्कार करना उचित है। आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा को जिनने प्राप्त किया है, उन्हें पहचानकर उनको नमस्कार करना और उनका आदर करना उचित है। आत्मा अपने स्वरूप में रहता है। यह कहना कि आकाश में रहता है, केवल उपचार और कथनमात्र है। गुड़ मटके में नहीं, किन्तु गुड़, गुड़ में है, और मटका मटके में है, दोनों भिन्न भिन्न हैं। कोई वस्तु किसी परवस्तु के आधार से रहती है, यह कहना वैसा व्यवहार है जैसे पीतल के घड़े को पानी का घड़ा कहना। उसी प्रकार भगवान आत्मा रागद्वेष और कर्मों के आवरण से रहित है, उसे देह वाला, रागी, द्वेषी कहना भी व्यवहार है।

प्रश्न—यदि पतेली का आधार न हो तो घी कैसे रहेगा ?

उत्तर—घी और पतेली भिन्न ही हैं। घी, घी के आधार से है, और पतेली, पतेली के आधार से है। घी के बिगड़ने पर पतेली नहीं बिगड़ जाती। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अपनेरूप में है, पररूप में नहीं है। इसलिये सिद्धभगवान देह के आधार के बिना अपने आत्मा के आधार से ही हैं। सिद्धों को 'सर्व' विशेषण दिया गया है, इसलिये सिद्ध अनंत हैं यह अभिप्राय व्यक्त किया है। अतः 'ज्योति में ज्योति मिल जाती है, सभी आत्मा एक हैं अथवा शुद्धात्मा एक ही है,' यह कहने वाले अन्य मतावलंबियों का निषेध हो गया। क्यों कि जो संसार में पराधीनतारूप सुख-दुःख को स्वतंत्रतया प्रथक् रखकर सत्ता का अनुभव करता है वह किसी की सत्ता में मिल नहीं जाता, वह उस विकार का नाश करके पूर्ण शुद्धोपयोगी होने के बाद परसत्ता में एकमेक होकर स्वाधीन सत्ता का नाश कैसे होने देगा ?

यहाँ भी प्रथक् तत्व है। दुःख भोगने में तो अलग रहे और अनंतसुख, स्वाधीन, आनंददशा प्रगट करके परसत्ता में मिलकर पराधीन हो जाय यह कैसे हो सकता है ? किसी को बिच्छू काटे तो उसकी

वेदना को दूसरा आदमी नहीं भोग सकता इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा को दुःख का संवेदन देह की प्रीति के कारण स्वतन्त्रतया होता है, परन्तु उस रागद्वेष, अज्ञानरूप संसारी-विकारी अवस्था की आत्मप्रतीति और स्थिरता के द्वारा नाश करने पर अनंतकाल तक अव्याबाध, शाश्वत् सुख को भोगता रहता है। उसे सर्व सिद्ध स्वतन्त्रतया भोगते हैं। इसलिये 'सब एक ही शुद्धात्मा हैं।' यह कहने वाले अन्य मतावलम्बियों का व्यवच्छेद हो गया।

'श्रुतकेवली' शब्द के अर्थ में, श्रुत का अर्थ 'अनादि अनंत, प्रवाहरूप आगम' है। श्रुतकेवली अर्थात 'सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी (समस्त द्वादशांग) को जानने वाले। गणधरदेव आदि जो श्रुतकेवली हैं उनसे इस समयसार शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। आचार्य कहते हैं कि मैंने यह कोई कल्पना नहीं की है, किन्तु अनादि-अनंतशास्त्र, शब्दरूप रचना, त्रिकाली प्रवाहरूप आगम, जैसा है उसी प्रकार कहा है। इस परमागम को समझने के लिये अंतरंग का अनुभव चाहिये। वादविवाद से पार नहीं आ सकता। सद्सज्ञान का अभ्यास चाहिये, बाहर से कहीं नहीं जाना जा सकता।

श्रुत का अर्थ है आगम शास्त्र, अर्थात 'सर्वज्ञ से आई हुई वाणी, उस श्रुतम गूंथे गये सूत्र।' एक व्यक्ति के द्वारा निमित्तरूप से जो वाणी कही गई है उस अपेक्षा से वह आदि कहलाता है और एक व्यक्ति के द्वारा कहने से पहले भी आगमरूप शास्त्र की वाणी थी। इस अपेक्षा से अनादि के प्रवाहरूप आगम-वाणी हुई। केवली के उपदेश से विनिर्गत शास्त्र, अर्थात् उन केवलज्ञानी के द्वारा कथित आगम अनादिकाल से है। सर्वज्ञ अर्थात् निरावरण ज्ञान। जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें नहीं जानना हो ही नहीं सकता। जो आवरण (उपाधि) रहित, निर्मल, अखण्ड ज्ञान प्रगट हुआ उसमें कुछ अज्ञान नहीं रहता। जिसका स्वभाव जानना है उसमें क्रम रहित, सीमातीत जानना होता है, इसलिये जिसके पूर्ण निरावरण, क्षायक-

स्वभाव प्रगट है वह सर्वज्ञ है। फिर श्रुतकेवली से जो सुना, आत्मा से अनुभव करके जाना, वह परम्परा से आचार्य द्वारा आया हुआ श्रुतज्ञान है, और जो उस सर्वश्रुतज्ञान में पूर्ण है वह श्रुतकेवली है। सर्वज्ञ–वीतरागदशा प्रगट होने के बाद जिनको वाणी का योग हो उनकी सर्व अर्थसहित वाणी होती है। उसको साक्षात् गणधरदेव द्वादशांग सूत्र में गूंथते हैं। उसमें भी अन्तरंग में भावज्ञान – भावशास्त्रज्ञान के तर्क की बहुलता से पूर्ण छद्मस्थ ज्ञानी – द्वादशांग के जानने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इस प्रकार शास्त्र की प्रमाणता बताई है और अपनी बुद्धि से कल्पित कहने का निषेध किया है। और अन्यमती अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप चाहे जिस प्रकार से कहता है; उसका असत्यार्थपना बताया है।

प्रारंभ में कहा गया है कि इस शास्त्र में 'अभिधेय' तथा 'संबन्ध' पूर्वक कहेंगे। अभिधेय अर्थात् कहने योग्य वाच्यभाव। पवित्र, निर्मल, असंयोगी, शुद्ध आत्मस्वभाव कहने योग्य है, वह वाच्य है और उसका बताने वाला शब्द वाचक है। जैसे 'मिश्री' शब्द वाचक है, और मिश्री पदार्थ वाच्य है। उस वाच्य – वाचक सम्बन्ध से आत्मा का स्वरूप कहेंगे। उसमें आत्मा कैसा है? यह बताने के लिए शब्द निमित्त है, इसलिये वस्तु को सर्वथा अवाच्य न कहकर जैसा त्रैकालिक वस्तु का स्वभाव है उसी क्रम से कहा जायगा। ॥१॥

पहली गाथा में समय का सार कहने की प्रतिज्ञा की है। वहाँ शिष्य को ऐसी जिज्ञासा होती है कि "समय क्या है?" इसलिये अब पहले समय अर्थात् आत्मा को ही कहना चाहिये। जिसको रुचि (आदर) है उसी के लिये कहते हैं। यदि आकांक्षा बलात् कराई जाय तो प्रस्तुत जीव पराधीन हुआ कहलायगा। किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जिसे अन्तरंग से स्वरूप को समझने की चाह है वह पूछे और उसके लिये हम शुद्धात्मरूप समय को कहेंगे। इसलिये वह समय क्या है? यह समझने की जिज्ञासा जिस शिष्य को हुई है वही समझाने के योग्य है।

जिस स्वाभाविक आनन्द मे परावलम्बन की आवश्यकता नहीं है और जो पूर्ण प्रभु स्वाधीनस्वरूप है वह कैसा होगा? नगर का और कमाई की बात सुनकर जैसे पुत्र पिता से पूछता है कि वह कैसे होगी? उसी प्रकार शिष्य प्रथम तत्व की महिमा को सुनकर आदरपूर्वक पूछता है। जिसे सत्य की चाह है उसे पराधीनता के दु:ख की प्रतीति होनी चाहिये। दु:खरहित क्या है? इसके विचार सहित जिसे पराधीनता का दु:ख हुआ है कि अरे! मैं कौन हूं, मेरा क्या होगा? कोई भी संयोगी वस्तु मेरी नहीं है, इस प्रकार प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु यह कहाँ मे सूझ सकता है? बाह्य विषयों में सुख मान रखा है, प्रतिष्ठा, पैसा, और लड़का, पुत्री मे सुख मान रखा है, किन्तु उसमें सुख नहीं है। जितनी पराधीनता है वह सब दु:खरूप है। पराधीनता की व्याख्या यह है कि एक अंश भी राग की वृत्ति उत्पन्न हो, पर का आश्रय लेना पड़े तो संपूर्ण स्वाधीनता नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी वर्तमान पर्याय की अशक्ति की अपेक्षा से अस्थिरता के कारण संपूर्ण स्वाधीन नहीं है। पर की जितनी आवश्यकता होती है उतना ही दु:ख है। इसलिये पर के अवलम्बन में स्वाधीनता नहीं हो सकती। रात-दिन जीव पराधीनता भोगता है, किन्तु उसपर ध्यान नहीं देता।

सिद्ध भगवान का परावलम्बरहित, स्वाधीन सुख कैसा होता है, इसे कभी नहीं जाना। यदि उसे एकबार रुचिपूर्वक सुनले तो संसार में सर्वत्र आकुलतामय भयंकर दु:ख ही दु:ख दिखाई देगा। इस प्रकार पराधीनता का दु:ख देखकर पूछने वाले को ऐसी अपूर्व जिज्ञासा होगी कि हे प्रभु! सर्वदु:खरहित स्वाधीन समय का स्वरूप कैसा होगा? और वह इस समयसारशुद्धात्मा बराबर समझ लेगा। जिसे आकांक्षा नहीं है वह तो पहले से ही इन्कार करेगा कि जो यह शुद्ध, देह-इन्द्रियरहित आत्मा कहते हो सो यह क्या है? जहाँ ज्ञानी 'शुद्ध आत्मा नित्य है' इसके अस्तित्व को स्थापित करना चाहता है, वहाँ यह पहले ही शंका करके विरोधभाव को प्रगट करता है। किन्तु जो सुयोग्य जीव है वह आदर

से बहुमानपूर्वक उछल उठता है कि अहो! यह अपूर्व बात है, और इस प्रकार स्वीकार करके प्रश्न करता है, 'न्याय' से बात करता है। न्याय शब्द में 'नी' धातु है, 'नी' का अर्थ है ले जाना। जैसा वास्तविक स्वभाव है उस ओर ले जाना। जहाँ जिज्ञासा है वहाँ ऐसी अपूर्व-रुचि वाली आकांक्षा होती है। 'है' इस प्रकार आदरवाली जिज्ञासा से समझना चाहे तो वह संपूर्ण सत्य को समझ लेगा। किन्तु यदि पहले से ही इन्कार करे तो नास्ति में से अस्ति कहाँ से आयगी? अस्ति में से ही अस्ति आती है।

कोई कहे कि ज्ञानियों ने आत्मा की बहुत महिमा गाई है, लाओ, मैं भी देखूँ और आँखे बंद करके, विचार करके देखने जाये तो मात्र अन्धकार या धुंधला ही दिखाई देगा, और बाहर जड़ पदार्थ का स्थूल-समूह दिखाई देगा। किन्तु उस अन्धेरे को, धुंधले को, तथा देह, इन्द्रिय इत्यादि को जानने वाला, नित्यस्थिर रहने वाला कैसा है? इसके विचार में आगे नहीं बढ़ता; क्यो कि अतीन्द्रिय आत्मा इस देह से भिन्न परमात्मा है, उसका विश्वास नहीं करता। परन्तु जिसने अन्तरंग से आदर किया है उस श्रोता की पात्रता से यहाँ बात कही गई है। हाँ कहने के बाद यदि वास्तविक शंका से पूछे तो बात दूसरी है। अन्तरंग से आदरपूर्वक आकांक्षा से प्रश्न होने पर उत्तर प्राप्त होता है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे भव्य! जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चय से स्वसमय जान, और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जान।

यहाँ यह नहीं कहा है कि 'अभी तू पात्र नहीं है, कर्म बाधक हैं,' किन्तु पात्रता का स्वीकार करके समझाते हैं कि पुण्य-पाप का भाव विकार है, अपवित्र है, और आत्मभाव पवित्र है, इसलिये अपवित्र भाव के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। चारित्र का अर्थ है अन्तरंग स्वरूप में स्थिर होना, गुण की एकाग्रता के स्वभाव में जम जाना। ऐसे शुद्धभाव को भगवान ने चारित्र कहा है। बाह्य में अर्थात् क्रियाकांड, पुण्य-पाप, वस्त्र अथवा किसी वेष इत्यादि में आत्मा का चारित्र नहीं होता, बाह्यक्रिया में तप नहीं होता, किंतु इच्छारहित अतीन्द्रिय ज्ञान में लीन होने पर इच्छा के सहज निरोध होने को भगवान ने तप कहा है। ऐसी श्रद्धा होने के बाद जितनी लीनता करता है उतनी ही इच्छा रुकती है। क्रमशः सर्व इच्छा दूर होकर पूर्ण-आनंद प्रगट होता है।

पानी में वर्तमान अग्नि के संबंध से उष्णता होने पर भी उसमें प्रति-क्षण अग्नि को बुझाने की शक्ति रहती है, इसी प्रकार आत्मा में प्रतिक्षण विकार का नाश करने की शक्ति विद्यमान है। जैसे अग्नि के संयोग की क्षणिक अवस्था के लक्ष्य को छोड़े तो पानी शीतल स्वभावी ही दिखाई देगा, इसी प्रकार पुण्यपाप और पर के संबंध का लक्ष्य छोड़े तो आत्मा का शुद्धस्वभाव दिखाई देगा। चेतन्य-स्वभाव शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है। हे शिष्य! तू उसे स्वसमयरूप जान। यही बात यहाँ कही गई है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तुझमें शक्ति है यह देखकर आत्मा ऐसा है यह समझ। इसीलिये कहा है कि जो नित्य, शुद्ध, दर्शन, ज्ञान, चारित्र-रूप है वह आत्मा है। जिसमें यह शक्ति देखते हैं उसी से ज्ञानी कहते हैं, किसी पत्थर, जड़ अथवा भैंसे से नहीं कहते कि तू इस बात को समझ। इसलिये यह कहकर इन्कार मत कर कि मैं समझता नहीं हूँ, और इस-प्रकार का बहाना भी मत बना कि मैं अभी तैयार नहीं हूँ, या मेरे लिये अच्छा अवसर अथवा अच्छा संयोग नहीं है। भलीभाँति न्याय, युक्ति और प्रमाण से कहा जायगा, सो उसे उमंगपूर्वक स्वीकार कर। जब रणभेरी सुनकर शरीर के साढ़ेतीन करोड़ रोमों में राजपूत का शौर्य उछलने लगता

है। इसी प्रकार तत्त्व की महिमा को सुनते ही आत्मचैतन्य की शक्ति उछलने लगती है।

जो सिद्ध भगवान पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हुये हैं उन्हीं की जाति का उत्तराधिकारी मैं हूं। मैंने अपनी स्वतंत्रता की रणभेरी सुनी है। इसप्रकार स्वतन्त्रता की बात सुनकर उसकी महिमा को समझ। श्री कुन्द-कुन्दाचार्यदेव समयसार की रणभेरी बजाकर गीत गाते हैं; उसे सुनकर तू न उछलने लगेगा, यह कैसे हो सकता है?

जो जीव अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिर हुआ उसके स्वसमय जान, और जो पुद्गल कर्मप्रदेश में स्थित हुआ उसके परसमय जान। जो जीव अपने गुणों में स्थिर न रहकर परद्रव्य के संयोग में अर्थात् पुद्गल-कर्म के प्रदेश में स्थित हो रहा है उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्न—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्म के प्रदेशों को देखता है?

उत्तर—नहीं, नहीं देखता; किन्तु मोहकर्म की फलदायी शक्ति के उदय में युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपने में युक्त होने से अर्थात् स्थिर रहने से विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार तो परनिमित्त का संयोग पाकर होता है। स्वयं निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्था में विकारभाव दिखाई देता है। यदि मात्र स्वभाव से विकार हो तो विकार दूर नहीं होता। कर्म संयोगी—विकारी पुद्गल की अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है; वह पुद्गलकर्मप्रदेश में युक्त होने से उत्पन्न होता है। जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते; किन्तु स्वयं अपने को भूलकर पुद्गलप्रदेशों में स्थित हो रहा है। रागद्वारा स्वयं परावलंबीभाव करता है। कर्मों ने जीव को नहीं बिगाड़ा किन्तु जब जीव स्वयं अशुद्धता धारण करता है तब कर्मों की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। इसलिये बंधना या मुक्त होना अपने भावों के आधीन है, और यह अपनी शक्ति के बिना नहीं हो सकता। पुद्गल कर्मप्रदेश की ओर स्वयं रुका, इसलिये उस विकार के द्वारा व्यवहार से परसमय में

स्थित कहलाया। स्वभाव से अपने में ही स्थिर है, किन्तु यदि अवस्था में स्वरूपस्थित हो तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता कि आत्मा क्या है। इसीलिये अवस्था में विकार हुआ है।

प्रश्न—जब कि कर्म दिखाई नहीं देते तो उन्हें कैसे माना जाय? क्यों कि लोकव्यवहार में भी किसी का देखा हुआ या अपनी आँखों से देखा हुआ ही माना जाता है?

उत्तर—अज्ञानी जीवों ने बाह्य विषयों में सुख है यह पर में अपनी दृष्टि से देखकर निश्चय नहीं किया है, किन्तु अपनी कल्पना से मान रखा है। इसी प्रकार कर्म सूक्ष्म हैं, इसलिये वे आँखों से भले दिखाई नहीं देते, किन्तु उनका फल अनेकरूप से बाहर दिखाई देता है। उस कार्य का कारण पूर्वकर्म है। जैसे यदि सोना मात्र अपने आप ही अशुद्ध होता तो वह शुद्ध नहीं किया जा सकता। वह स्वभाव से तो शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान अशुद्धता में दूसरी वस्तु का संयोग है तथा आत्मा की वर्तमान अवस्था में निमित्त होने वाली दूसरी वस्तु विकार में विद्यमान है, उसे शास्त्र में कर्म कहा है। दूसरी वस्तु है इसलिये दोनों वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान कर, क्यों कि आत्मा की ज्ञान सामर्थ्य स्वपरप्रकाशक है। जिसने इसे समझने की शक्ति का विकास किया है और जो आदरपूर्वक सुनता है उसे सुनाते हैं। वह यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है, किन्तु जिसकी पर के ऊपर दृष्टि है, और जिसे मैं जुदा हूँ यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्म की उपस्थिति की जहाँ बात आई वहाँ निमित्त के पीछे ही पड़ता है और बाहर से सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्र में कर्म को निमित्त मात्र कहा है, वह आत्मा से परवस्तु है। परवस्तु किसी का कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

शास्त्र श्रवण करके मोटी कल्पना करता है कि कर्म मुझे अनादिकाल से बाधा पहुँचा रहे हैं राग-द्वेष कर्म कराते हैं तथा देह, मन और वाणी की है, इस प्रकार का विभाव भी

स्वरूप से तू सिद्ध भगवान के समान ही है अर्थात् आत्मा पर से निराला, अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, पुण्य-पाप उपाधिरूप नहीं है। विपरीतदशा से, कल्पना से पर में आनंद मानकर सुखगुण को आकुलतारूप किया था, उनसे मुक्त होकर अनंतसुखरूप दशा प्रगट करने के लिये श्री गुरु करुणा करके शुद्धात्मा की बात सुनाते हैं। सुनने वाले और सुनाने वाले दोनों योग्य होना चाहिये।

अब 'समय' शब्द का अर्थ कहते हैं.- 'सम्' उपसर्ग है। समय=सम् + अय। सम्= एक साथ, एक काल में 'अय गतौ' धातु है, उसका अर्थ गमन होना है, और ज्ञान भी होता है। गमन अर्थात् गमन करना या गमन होना। इसलिये सम् + अय का अब यह हुआ कि एक साथ एकरूप रहकर जाने। एक अवस्था से एक समय में दूसरी अवस्थारूप होना सो समय है। किसी आत्मा में वर्तमान अवस्थारूप में बदलने का स्वभाव न हो तो कोई विशेषता नहीं हो सकती। यह कहना वृथा सिद्ध होगा कि दोष को दूर करके गुण को प्रगट कर। तीव्रराग में से मंदराग होता है तथा विकारीभाव का परिवर्तन अर्थात् बदलना होता है, उस विकार को निकालदे तो ज्ञानगुण इत्यादि का निर्मलतया बदलना होता है। दूसरे पदार्थों से आत्मा का लक्षण भिन्न है। इसलिये यह बताया है कि जो जीव के स्वरूप को एक समय में जाने और परिणमे वह जीव चेतनास्वरूप है।

जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म; आकाश, और काल; यह पाचों पदार्थ अजीव-अचेतन पदार्थ है। उनकी भी अपने अपने कारण से समय समय पर अवस्था बदलती रहती है, किन्तु उनमें ज्ञातृत्व नहीं है और जीवमें ज्ञातृत्व है, इसलिये यह जीव नामका पदार्थ एक ही समय जानता है और प्रतिक्षण नई नई अवस्था के रूप में अपनेपन से बदलता है, इसलिये वह समय है।

अब वह आत्मा कैसा है सो बताते हैं। उसकी दो दिशायें बतानी हैं। वह जिसे हितरूप और आदरणीय मानता है उसी ओर तो वह

झुकेगा ? जीव में दो प्रकार की अवस्थायें होती हैं– (१) अनादिकालीन अशुद्ध अवस्था, जो पर की ओर झुकी होता है, (२) रागद्वेष–अज्ञान-रहित स्वाभाविक शुद्ध अवस्था, जो स्व–स्वभावरूप है। ऐसी दो अवस्थायें बताई है, क्योंकि आत्मा त्रिकाल है, उसकी ससार और मोक्ष यह दो दशायें है। ससाररूप भी सारा आत्मा नहीं है और मोक्षरूप भी सारा आत्मा नहीं है, दोनों अवस्थायें मिलकर त्रैकालिक आत्मा है। जो आत्मा वर्तमान में है वह त्रिकाल है। उसकी दो अवस्थायें हैं। उनमें से अनादिकालीन अपनी कल्पनारूप, रागद्वेषरूप जो अशुद्धदशा है, वह ससारदशा है। पर से भिन्न अपना शुद्धस्वरूप है, उसकी प्रतीति करके उसमें स्थिरता के द्वारा एकाग्र होकर शुद्धता प्रगट करना सो शुद्धतारूप मोक्ष-अवस्था है। दोनों आत्मा की अवस्थायें हैं। यदि यह बात बहुत सूक्ष्म मालूम हो तो परिचय करना चाहिये, किन्तु पहले यह कहकर रुक नहीं जाना चाहिये कि मेरी समझ में ही नहीं आता। जिज्ञासु जीव को आत्मा समझ में न आये, यह नहीं हो सकता। जो काम अनत आत्माओं ने किया है वही यहाँ कहा जा रहा है। जो नहीं किया जा सकता, वह नहीं कहा जा रहा है। कम कर सकता है और कम जानता है, इसका कारण अपनी वर्तमान अशक्ति है, किन्तु यदि वह पराश्रित रहने वाली क्षणिक अवस्था स्वभाव की प्रतीति से दूर कर दी जाय तो जो परमानद शुद्धस्वभाव है वह पूर्ण निर्मलता से प्रगट हो जाता है। अर्थात् आत्मा जैसा स्वभाव से स्वतत्र है, उसकी समझ और शुद्धदशा प्रगट करने के लिये ही कहा जाता है।

पहले तो यह निश्चय होना चाहिये कि आत्मा है, वह अनादि-अनन्त वस्तु है। जो है सो सत् है। जो है वह जा नहीं सकता, और जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् वस्तु नित्य है, उसकी अवस्था क्षण-क्षण में बदलती है, किन्तु वस्तु का मूल वस्तुत्व नहीं बदलता, वह पराश्रित नहीं है, किन्तु अनादिकाल से पर की ओर रुचि और पर की ओर झुकाव होने से अज्ञान के कारण आत्मा में राग-

द्वेषरूप मलिनभाव भासता है। संसार आत्मा की विकारी अवस्था है। जो जड़-देहादि का संयोग है उसमें संसार नहीं है। जैसे पानी में तरंगें होती हैं, उनमें से कुछ तरंगें मैली भी होती हैं और कुछ तरंगें निर्मल होती हैं; किन्तु वे सब तरंगें मिलकर पानी है। इसी प्रकार जबतक आत्मा में अनादिकाल से अज्ञानपूर्वक प्रवर्तमान अवस्था कर्म के निमित्ताधीन होती है तबतक वह मैली है, और रागद्वेष विकारी अवस्था का नाश करके सादिअनंत, प्रगट, निर्मल, मोक्ष अवस्था प्रगट होती है, इन सभी अवस्थाओं के रूप में आत्मा है; किन्तु यदि स्वभाव को देखा जाय तो सभी अवस्थाओं के समय शुद्ध ही है। इसलिये यह नहीं मानना चाहिये कि आत्मा समझ में नहीं आ सकता। इस बात को समझने की योग्यता सभी जीवों में है, सभी केवलज्ञान के पात्र हैं।

अब यह जीव पदार्थ कैसा है, यह सात प्रकार से कहेंगे। वस्तु का अस्तित्व सिद्ध हुये बिना उसमें बंध दशा और मोक्ष दशा कैसे बताई जा सकती है ? इसलिये आत्मा का स्वतन्त्र वास्तविक स्वरूप कैसा है, यह पहले निश्चय कराते है।

जीव को पदार्थ कहा है, क्योंकि 'जीव' पद से अर्थ को जाना जा सकता है ('पद' के साथ व्यवहार से वाच्य-वाचक सम्बन्ध है इसलिये) जीवपदार्थ सदा परिणमनस्वभावयुक्त है। विकार का नाश करके पूर्ण, अनंत, अक्षय, आनंदस्वरूप को प्रगट करने से त्रिकाल के सुख का अनुभव एक ही समय में नहीं हो जाता। यदि एक समय में सारा आनंद भोग लिया जाय तो दूसरे समय में भोगने को शेष क्या रहेगा ? किन्तु यह बात नहीं है। प्रत्येक समय परिणमन होता है, इसलिये अनंतकाल तक अनंतसुख का अनुभव होता है। आत्मा स्वयं अनुभवस्वरूप है।

प्रत्येक बात समझने योग्य है, अंतरंग में खूब घोलने योग्य है। यदि अंतरंग के तत्व को सभी पहलुओं से यथार्थरूप में समझकर उसमें स्थिर हो तो स्वाधीन शुद्ध दशा प्रगट हो जाय। जिसे जिस विषय संबंधी (जिस साध्य में) रुचि है, उस ओर राग के द्वारा माना गया प्रयोजन सिद्ध

करने का प्रयत्न किया करता है। इसीप्रकार लोग धर्म के नाम पर माने हुये प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये बहुत कुछ करते हैं, किन्तु वास्तविक पहचान के बिना सच्चा उपाय हाथ नहीं आता। जैसे यदि राजा को उसकी समृद्धि और बडप्पन के अनुसार मानपूर्वक बुलाये तभी वह उत्तर देता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा को जिस प्रकार जानना चाहिये उसीप्रकार मेल करके एकाग्रता का सम्बन्ध करे तो उत्तर मिले, अर्थात् वह जाना जाय। आत्मा सदा परिणमनस्वभावी है, इसलिये जो आत्मा को अवस्था के द्वारा परिणमन वाला नहीं मानते उनका निषेध हो गया। 'परिणमनस्वभावी है' यह कहने पर तू जिस भाव में उपस्थित है, उस भाव को बदल सकता है। जो पहले कभी नहीं जाना था, उसे जान लिया और जाननेवाला नित्य रहा। इससे सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का अनुभूति जिसका लक्षण है वह सत्ता है। सत्ता लक्ष्य (जानने योग्य) है, और सत्ता का लक्षण उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है। क्षण के असंख्यातवें भाग में प्रतिसमय अवस्था बदलती है। जैसे लोहे को घिसने पर उसकी जंग का व्यय हो जाता है, उज्वलता अथवा प्रकाश का उत्पाद हो जाता है, और लोहा बराबर ध्रुव बना रहता है। इसी-प्रकार प्रत्येक समय में अपनी पूर्वदशा का व्यय होता है, नई अवस्था उत्पन्न होती है, और वस्तु वस्तुरूप में स्थिर बनी रहती है। यह तीनों अवस्थाएँ एक ही समय मे होती है। उत्पन्न होना, व्यय होना, तथा स्थिर रहना, इनमें कालभेद नहीं है। तेरा नित्यस्वभाव प्रतिक्षण अवस्थारूप में स्थिर रहकर बदलता रहता है, इस प्रकार पर से सर्वथा भिन्नत्व को जो न समझे और विरोध करे तो वह किसका विरोध करता है, यह जाने बिना ही विरोध करता है। जैसे बालक ने किसी कारण से रोना प्रारंभ किया, फिर उसे चाहे जो वस्तु दो, तो भी वह रोता ही रहता है। यहाँ तक कि जिस वस्तु के लिये वह रो रहा था उस वस्तु के देने पर भी वह रोता ही रहता है, क्योंकि वह उस कारण को ही भूल जाता है, जिस कारण से उसने रोना प्रारंभ किया था। इसलिये उसका समाधान कैसे हो सकता है?

पहले उसकी इच्छा चूसनी की थी, जिसे वह चूस रहा था, वह कोई ले गया है,—यह बात उसके जब नहीं पाई, बस, वहीं से रोना शुरू हो गया। उसके बाद वह उस बात को भूल गया और रोना बराबर चालू रहा। इसी प्रकार ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तूने अनादिकाल से अज्ञान-भाव से (बालभाव से) रोना शुरू किया है, इसलिये तुझे कहीं भी शांति नहीं मिलती। ज्ञानी यदि सच्ची वस्तु को बताते हैं तो उसे भी तू ग्रहण नहीं करता और अपने अज्ञान के कारण रोता रहता है? जबतक सच्ची जिज्ञासा से समझने योग्य धीरज और मध्यस्थता नहीं लायगा, तब-तक कोई उपाय नहीं है। तेरी रुचि होगी तो उस ओर तेरी समझना की उत्पत्ति होगी।

पहले स्वाधीन, निर्दोष सत् की रुचि कर तो अनादिकालीन पर की ओर झुकी हुई पुरानी अवस्था का व्यय और स्वोन्मुखरूप नई अवस्था की उत्पत्ति तथा स्वभावरूप में स्थिर रहने वाला ध्रौव्य तू ही है, यह समझ में आ जायगा। तेरी अवस्था का बदलना और उत्पन्न होना तेरे ही कारण से है। पराश्रय के बिना स्थिर रहनेवाला भी तू है; इसलिये मेरे ही कारण से मेरी भूल थी उसे ज्ञानस्वभाव के द्वारा दूर करने-वाला मैं ही हूँ, यह जानकर खोटी मान्यतारूप असत्य का त्याग, सच्ची समझ का सद्भाव और मैं नित्य ज्ञानस्वभाव आत्मा ध्रुव हूँ, इस प्रकार का निश्चय कर। जैसे स्वर्ण सदा स्थिर रहता है, उसकी पूर्व अवस्था का नाश होकर नई अवस्था (अंगूठी आदि) बनती है, उसमें सोना प्रत्येक दशा में ध्रुव रहता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनंत, स्वतंत्र है, उसमें तीनों प्रकार (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) एक ही समय में विद्यमान हैं। यह बात पहले कभी नहीं सुनी थी, किन्तु यह ज्ञातव्य है। 'है' यह सुनकर उसमें कुछ अच्छी दृष्टि करके उस ओर झुके कि उसमें यह तीनों प्रकार आ जाते हैं। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वरूप में नित्य है। जीव जैसा है वैसा अपना स्वरूप अनादिकाल से नहीं जाना। जैसे कड़वे स्वाद से मीठे स्वाद की ओर लक्ष जाने पर

दूध स्वाद के लक्ष का व्यय, और मिठास के लक्ष की उत्पत्ति होती है। किन्तु स्वयं ज्ञान में स्वाद और रस को जाननेवाला ध्रुवरूप में स्थिर रहता है, इसी प्रकार प्रतिसमय निज अर्थक्रिया करने का स्वाधीन स्वभाव आत्मा में विद्यमान है।,

आत्मा स्वयं उत्पन्न नहीं होता और स्वयं नहीं बदलता, किन्तु आत्मा में प्रत्येक क्षण की अवस्था बदलती है और नई उत्पन्न होती है। अपनी और पर की होनेवाली प्रत्येक अवस्था बदलती है, किन्तु उस सबको जाननेवाला स्वयं एकरूप स्थिर रहता है। इसप्रकार अपने नित्य ज्ञान-स्वरूप को जानने पर, पर से भिन्नत्व का निर्णय किया। उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान का उत्पाद, पूर्व की अज्ञान अवस्था का व्यय और स्थिर रहने वाला जीव ध्रुव है। इसप्रकार आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सत्ता से युक्त है। इस विशेषण से जीव की सत्ता को नहीं माननेवाले नास्तिकवाद का खण्डन हो गया।-और परिणमनस्वभाव कहने से आत्मा को अपरि-णामी माननेवाले सांख्यमती के मत का निषेध हो गया। सत्ता एकांत नित्य ही है, अथवा एकांत वस्तुमात्र अनित्य ही है, इसप्रकार माननेवाले एकांत-वादियों का भी निषेध हो गया। आत्मा है, यह कहने से उसमें विरुद्ध आत्मा नहीं है, अथवा स्वतंत्र नहीं है, ऐसा कहने वाले परमत (अज्ञान) का खण्डन हो गया।

कोई कहता है कि आत्मा है ही नहीं, किन्तु वह यह तो बतावे कि आत्मा नहीं है यह किसने निश्चय किया है? पहले जिसने यही निश्चय नहीं किया कि आत्मा है, वह यह विचार ही कैसे कर सकता है कि आत्मा कैसा है? जो यह मानते हैं कि जो वर्तमान में दृष्टिगोचर है उतना ही है, वे दृश्य को अदृश्य और अतीन्द्रिय आत्मा को अदृश्य कैसे कह सकते हैं। सबका देखनेवाला स्वयं है, जानने-देखने का कार्य, स्व-पर का निर्णय, देखने वाले तत्त्व की सत्ता में होता है। देह और इन्द्रिय पर को तथा अपने को नहीं जानते, किन्तु जानने-वाला जानता ही रहता है।

पुद्गल नामक वस्तु नित्य है, उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि स्वतन्त्र गुण हैं। वह वस्तु की शक्ति है। इसी प्रकार आत्मा सर्व पर-वस्तु से भिन्न है, उसमें ज्ञानादि शक्तिरूप अनन्त गुण हैं, इसलिये आत्मा का लक्षण चैतन्य अर्थात् जागृतिस्वभाव है।

हे प्रभु! तू चैतन्य जागृतिस्वरूप है। तेरे गुण की उत्पत्ति मन, वाणी, देहादि से नहीं है, उसमें अन्धेरा नहीं है, अजागृति और अजानपन नहीं है। अन्धेरा है, यह किसने निश्चय किया? आषाढ़ी अमावस्या की मेघगर्जित घोर अन्धकारमय रात्रि हो, और रजाई से सारा शरीर ढक रखा हो तथा आँखे बिल्कुल बंद हों तथापि अन्धकार का कौन निश्चय करता है? अन्धेरे का जाननेवाला तद्रूप नहीं हो जाता, किन्तु उस अन्धकार को जाननेवाला आत्मा उस अन्धकार से भिन्न है।

आत्मा निर्मल, स्पष्ट, दर्शन, ज्ञानज्योति–स्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाशस्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने से जानता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, मैं ही जानने–देखने वाला हूँ। मेरी सत्ता (भूमिका) में ही जानने–देखने के भाव हुआ करते हैं, पर में घुसकर नहीं जानता, किन्तु अपनी सत्ता में रहकर स्व–पर को जानता हूँ।

दर्शन= किसी भी पदार्थ को जानने से पूर्व सामान्य झुकता हुआ जो निर्विकल्प अन्तर व्यापार है सो दर्शन है, और उसके बाद विशेष जानने का जो कार्य है सो ज्ञान व्यापार है। जैसे संसार की बातें सरल हो गई हैं वैसे ही जीव इसका परिचय करे तो यह भी सरल हो जाय। जड़, देह, इन्द्रियों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जड़स्वभाव हैं। वे कहीं आत्मा में घुस नहीं गये हैं।

ज्ञान का स्वभाव जानना है, इसलिये स्व–पर को जानता ही रहता है। कोई कहता है कि मोक्ष हो जाने पर स्व–पर का जानना मिट जाता है। जैसे दीपक के बुझने पर प्रकाशक्रिया बंद हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाण होने पर जानने की क्रिया बन्द हो जाती है। किन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है। क्योंकि जानना तो गुण है और गुण का कभी नाश

नहीं हो सकता। जानना दुःखदायी नहीं है, किन्तु जानने में उपाधि कल्पित करना दुःख है। कोई कहता है कि अधिक जानना दुःख है, किन्तु क्या गुण कभी दोष अर्थात् दुःख का कारण हो सकते हैं? कदापि नहीं। किसी बालक ने लाठी मारदी, किन्तु बालक का स्वभाव जानने पर कि उसका भाव मात्र खेल कूद ही का था, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। यथार्थ ज्ञान का कार्य समाधान है। आत्मा का स्वभाव जानना है, उसे रोका नहीं जा सकता। ज्ञानगुण का कार्य जानना अथवा ज्ञान करना है। राग-द्वेष करने का कार्य तो विपरीत पुरुषार्थ-रूप विपरीतता का है, इसलिये पुण्य-पाप के भेद से रहित स्व-पर का ज्ञाता अपने स्वभावरूप धर्म है, और उसमें स्थिर होना रत्नत्रय है।

"जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ" इस पद में प्रथम शब्द 'जीवो' है। जिसने यह जान लिया हो कि आत्मा कैसा है, उसे संसारी अशुद्ध अवस्था और मोक्ष की निर्मल अवस्था-इन दोनों को एकत्रित करके एक अखंड पूर्णरूप आत्मा का निर्णय करना होगा। आत्मा मन-वाणी और देह से भिन्न, अन्य जीव-अजीव आदि वस्तुओं से त्रिकाल भिन्न, अनादि-अनंत पदार्थ है। अपनी विपरीत मान्यता से रागद्वेष, पुण्य पाप, देह इंद्रिय इत्यादि परवस्तु को जीव ने अपना मान रखा है, और यही संसार है। परवस्तु में संसार नहीं है, संसार तो जीव का अवगुण है। उसे जाने बिना यह नहीं समझा जा सकता कि भव तथा रागद्वेष रहित रत्नत्रय तत्त्व क्या है? जैसे मनुष्य की बाल, युवा और वृद्ध यह तीन अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार आत्मा की भी तीन अवस्थायें होती हैं। अज्ञान अवस्था बाल्यावस्था है, साधकस्वभावरूप निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था धर्म अवस्था अर्थात् युवावस्था है, और अनुकूलता में राग तथा प्रतिकूलता में द्वेष होता है उसका नाश करने के लिये मैं शुद्ध हूँ, पर से मुझे लाभ हानि नहीं है, मैं पुण्य-पाप रहित अखण्ड ज्ञायक अलग ही हूँ, इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से राग-द्वेष का नाश होकर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा अनंत आनन्द अवस्था प्रगट होती

है, वह वृद्धावस्था है। आत्मा सदा अरूपी, ज्ञानानंदघन है। उसमें प्रति-समय पूर्व पर्याय को बदलकर, नई अवस्था को उत्पन्न करके, ध्रौव्यरूप तीन अवस्थाओं को लेकर सत्ता होती है। अस्तिरूप में जो वस्तु है उसमें ज्ञाता-दृष्टापन है। पर को जानना उपाधि नहीं है, किन्तु जानना-देखना आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है। स्व-पर को जानना ज्ञानगुण का कार्य है, और राग-द्वेष करना दोष का कार्य है।

अनत् धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मीपन है, उससे उसके द्रव्यत्व है और नित्यवस्तुत्व है। आत्मा का स्वतंत्र स्वरूप पर के आधार से रहित और पुण्य-पापरहित है, इसलिये उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आचरण भी पुण्य-पापरहित है। ऐसी बात को जीव ने न तो कभी सुना है और न माना है। यदि एक क्षणमात्र को भी ऐसे आत्मधर्म का आदर किया होता तो फिर दूसरा भव नहीं होता। जिसे सत् को सुनते हुये अपूर्व आत्ममाहात्म्य ज्ञात होता है उसके उस ओर अपने वीर्य का रुख बदले बिना नहीं रहता, क्योंकि जिसकी रुचि जिधर होती है उसी ओर उसका रुख हुये बिना नहीं रहता, ऐसा नियम है। जहाँ आवश्यक्ता मालूम होती है वहाँ जीव अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को प्रस्फुटित किये बिना नहीं रहता। जिसका मूल्य आँका गया या जिसकी आवश्यक्ता प्रतीत हुई उसका ज्ञान में विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना, उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यक्ता प्रतीत हुई, उसका ज्ञान में विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यक्ता प्रतीत होने पर उस ओर उसके वीर्य की गति हुये बिना नहीं रहती।

'जीव पदार्थ है' यह कहने के बाद अब यह बतलाते हैं कि उसकी दो प्रकार की अवस्थाएे कैसी हैं? क्योंकि प्रथम 'अस्ति' अर्थात् 'है'

इसप्रकार वस्तुत्व का निश्चय करने के बाद वह वर्तमान में किस अवस्था में है यह बताया जा सकता है। 'वस्तु है' वह अनादि-अनंत है, पर से भिन्न है, इसलिये किसी के आधार से किसी का बदलना नहीं होता यह कहा गया है। और फिर, वस्तु में अनंत धर्म भी है। उनमें द्रव्यत्व, प्रमेयत्व प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व आदि वस्तु के धर्म अर्थात् गुण उस वस्तु के आश्रित है, परवस्तु के आश्रित नहीं है। जैसे स्वर्ण एक वस्तु है, वह अपने अनंत गुणों को धारण करता है। उसमें पीलापन, चिकनापन, और भारीपन इत्यादि शक्ति है, जिसे गुण कहा जाता है। इसीप्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य अस्तित्व, कर्तृत्व इत्यादि अनंत गुण हैं। आत्मा अनंत वस्तुओं के साथ रहने पर भी अनंत वस्तुओं से भिन्न है। अनंत परवस्तु होने से अनंत अन्योन्यापन नामक अनंतगुण आत्मा में है।

'आत्मा क्या है?' यह जाने बिना आत्मा का धर्म कहां से हो सकता है? जो सत्ता क्षेत्र में अनगुण कहलाती है वहीं वह गुण भी है। गुड़ की मिठास गुड़ में होती है या उसके बर्तन में? इसी प्रकार देहरूपी बर्तन में अरूपी ज्ञानघन आत्मा विद्यमान है, तब फिर उसमें उसके गुण होंगे कि देहादि परसंयोग में? परसंयोगी वस्तु का वियोग होने पर आत्मा का सद्भाव मन, वाणी, देह, इन्द्रिय इत्यादि में दिखाई नहीं देता। इसलिये आत्मा पर से भिन्न ही है। आत्मा एक है वह अनादिकाल से शरीर तथा परवस्तु से भिन्न है। आत्मा ऐसे अनंत शरीर के रजकणों से तथा परवस्तु से भिन्न रहता है। इसलिये अनंत परद्रव्य से नहीं होता, उसमें अनंत नास्तित्व तथा अनंत अन्यत्व नामक अनंत गुण है। आत्मा अनंतकाल से अनंत पुद्गलों, अनंत शरीरों के साथ एकत्रित रहा, फिर भी वह उनके किसी भी गुण-पर्याय के रूप में परिणत नहीं हुआ। किसी के साथ मिला-जुला नहीं है। इस प्रकार अनंत के साथ एक नहीं हुआ, इसलिये अनन्त पर से भिन्न रहा। रजकण में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की अवस्था बदलती है, किन्तु रजकण बदलकर आत्मा नहीं हो जाते, और आत्मा बदलकर जड़ नहीं हो जाता।

अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मीपन है उसके कारण जीव के द्रव्यत्व प्रगट है। अनन्त गुणों का एकत्व अनादिकाल से एकत्रित रहना सो द्रव्यत्व है। इस विशेषण से वस्तु को धर्म से रहित मानने-वाले अभिप्राय का निषेध हुआ। जो यह नहीं मानते कि गुण आत्मा से प्रगट होते हैं उनका भी निषेध हुआ। वास्तव में बाहर से गुण नहीं आते। जो भीतर हैं वे ही प्रगट होते हैं, क्योंकि यदि अनन्तगुण नहीं थे तो वे सिद्धों में कहा से आ गये? जो नहीं होता वह कहीं से आ नहीं सकता, इसलिये प्रत्येक आत्मा में स्वतंत्रतया अनंतगुण स्वभावरूप में विद्यमान हैं। आत्मा धर्म के नाम पर अनंतबार दूसरा बहुत कुछ कर चुका है, किन्तु उसने आत्मा को अनंत धर्मस्वरूप स्वतंत्र यथार्थरूप में जैसा है वैसा कभी नहीं जाना। कहा भी है कि–'जबतक आत्मतत्व को नहीं पहचाना तबतक सारी भावना वृथा है'। एक 'स्व' को नहीं जाना इसलिये अपने को भूलकर जगत् को देखता है। एक 'स्व' को जहाँ तक नहीं जाना है वहाँ तक कुछ नहीं जाना। एक के जानने से सब जाना जाता है।

जब लग एक न जानियो, सब जाने क्या होय।
इक जाने सब होत है, सबसे एक न होय॥

सभी को जानने वाला स्वयं ही है। इसप्रकार जाने बिना किसको पहचानकर–मानकर उसमें स्थिर हो? इसलिये पहले आत्मा को यथार्थ स्वरूप में निश्चय करना चाहिये। वस्तु का विचार किये बिना किसमें अस्तित्व मानकर टिकेगा? जैसा देहानुसार देह से भिन्न असंयोगी आत्मा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है मैं वैसा ही पूर्ण हूँ, यह स्वीकार करने पर सभी समाधान हो जाते हैं।

क्रमरूप–अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव है इसलिये जिसने गुण–पर्यायों को धारण किया है, ऐसा क्रमरूप आत्मा प्रतिक्षण अवस्था को बदलता है। जैसे पानी में एक के बाद दूसरी लहर उठती

है, उसी प्रकार जीव में प्रतिक्षण नई अवस्थायें क्रमशः होती हैं। उसमें जब राग होता है तब गुण की निर्मलदशा नहीं होती, और जहाँ वीतरागता होती है वहाँ राग दशा नहीं होती। राग-विकार मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार जहाँ अरागी तत्व का लक्ष किया वहाँ राग मंद हुआ अर्थात् वीतराग की अवस्था बदली। इस प्रकार क्रम क्रम से अवस्था बदलती है। जैसे सोने में रहने वाले गुण एक ही साथ होते हैं, इसलिए वे अक्रमरूप कहलाते हैं, इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आनन्द इत्यादि गुण एक साथ होते हैं, इसलिये उन्हें अक्रम अथवा सहभावी गुण कहा जाता है। सभी गुण त्रिकाल एकरूप आत्मा में साथ रहते हैं, इसलिये वे सहभावी हैं। अवस्था एक के बाद एक बदलती है, इसलिये वह क्रमभावी है। जबतक विकार में युक्त होता है तबतक वह मानें रहता है कि 'मैं विकारी हूँ,' जब अविकारी ज्ञानस्वभाव के लक्ष से 'मैं विकारी नहीं हूँ' यह मानता है तब 'मैं अविकारी हूँ,' जैसा परमात्मा का स्वभाव पूर्ण है वैसा ही 'मैं हूँ'। इस प्रकार का अभ्यास बढ़ने पर अवस्था क्रमशः बदलती जाती है। पहले राग-द्वेष मानता था, पीछे यह माना कि मैं रागरूप नहीं हूँ। यहाँ पर श्रद्धागुण का अवस्था बदलती है। स्थिर रहकर बदलना स्वभाव है। 'यह सूत्र कठिन है, मेरी समझ में नहीं आता' इस प्रकार कहकर इन्कार मत कर। ज्ञानस्वरूप आत्मा कौन है, इसका ज्ञान तो करना नहीं है और धर्म करना है, भला यह कैसे हो सकता है?

अनादिकाल से बाह्यदृष्टि रखकर बाहर से दूसरा माना सो यह सब अज्ञान है, असत्य है। जीव अनादि-अनन्त वस्तु है। 'है' इसलिये आत्मा में अवस्था बदलती है। जैसे मनुष्य के शरीर में अवस्था बदलती है, उसी प्रकार रागदशा बदलकर निर्मल वीतरागदशा होती है और गुण सदा आत्मा के साथ टिके रहते हैं। जैसे सुवर्ण और उसके गुण सदा बने रहते हैं और अवस्था बदलती रहती है, इसी प्रकार आत्मारूपी सुवर्ण में ज्ञान, दर्शन, सुख इत्यादि गुण बने रहते हैं, उसमें अपनापन भूलकर,

पर में अपनापन मानकर जो विपरीत रुचि की सो गुण की विपरीत अवस्था है। वह बदलकर सीधी दशा हो सकती है, और गुण तो सदा साथ में ही स्थिर रहते हैं। शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थाये एक साथ नहीं होतीं। जब रागद्वेष अज्ञानदशा होती है तब शुद्धदशा नहीं होती, और जब शुद्ध वीतरागदशा होती है तब अशुद्ध दशा नहीं होती। यहाँ पर यह बात बहुत ही सरल ढंग से और सादी भाषा में कही जा रही है; फिरभी उसे समझना तो स्वय ही होगा। वस्तु की महिमा होनी चाहिये। संसार की रुचि के लिये चार आने की दर से ५ लाख रुपये का चक्रवृद्धि व्याज लगाना हो तो बराबर ध्यान रखकर प्रतिदिन का व्याज बढ़ाते हुए नया लगाता जाता है, जो कि संसार में परिभ्रमण करने की प्रीति की विपरीत बात है। यदि आठ आने की भूल हो गई तो चार आने का तेल जलाकर भी उसकी पूरी जाँच करता है, किन्तु यहाँ पर धर्म की कोई चिंता या कीमत नहीं है। लोग यह चाहते हैं कि मुफ्त में ही धर्म मिलता हो तो लेलिया जाये, किन्तु यह कैसे हो सकता है? विशेष निवृत्ति पूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

आत्मा एक नित्य वस्तु है, पर से भिन्न और अनंत गुणों से अभिन्न है। उसमें से जिसमें सभी गुण एक साथ रहते हैं वह अक्रम कहलाता है, और जहाँ गुण की अवस्था क्रम क्रम से बदला करती है उसे क्रम-वर्ती कहते हैं। इस विशेषण से आत्मा को निर्गुण मानने वाले सांख्य-मत का निषेध होगया। निर्गुण किस प्रकार कहलाया? सो कहते हैं कि – रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण प्रकृति के हैं, वे आत्मा में नहीं हैं। जो विकार है सो रागभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसका अभाव हो सकता है। किन्तु अपने में ज्ञान, दर्शन, सुख, शांति, वीर्य इत्यादि स्वभाविक गुण हैं, उनका अभाव नहीं होता। आत्मा वस्तु है, इसलिये उसमें अनंत शक्तिरूप ज्ञान–आनंद इत्यादि अनंतगुण हैं। उन्हें पहचानकर उनमें एकाग्र होने पर वे प्रगट होते हैं। आम पड़ा पड़ा खट्टे से मीठा हो जाता है वहाँ आम में रसगुण ज्यों का त्यों है, मात्र

पकी अवस्था बदल जाती है। आम खट्टे से मीठा हो जाता है, उसमें उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती अथवा उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। इसीप्रकार आत्मा अपने ही कारण से पर में ममता करता है और ममतारहित होता है, इसमें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। विपरीत रुचि को मिथ्या-रुचि कहते हैं, और सच्चा पुरुषार्थ करके जो प्रतीति होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। दर्शनगुण आत्मा के साथ स्थिर रहता है और अवस्था बदलती रहती है। यहाँ सब सरल रीति से कहा जा रहा है, लेकिन लोगों ने उसे बहुत कठिन मान रखा है। 'मेरी समझ में नहीं आता, मैं नहीं समझ सकता' इत्यादि कहना मानों अपने को गाली देना है। आत्मा को अपात्र कहना उसे कलंकित करना है। जो अनंत सिद्ध परमात्मा कर चुके हैं वही कहा जा रहा है और अधिक कुछ नहीं।

प्रत्येक आत्मा जिसमें अनंत कार्य कर सकता है, पर में कुछ भी नहीं कर सकता। हाँ, यह मानना अवश्य है कि मैं पर में भी कुछ कर सकता हूँ। स्वतन्त्रता जैसी है वैसी ही बताई जा रही है, तू इन्कार मत कर, तेरी प्रभुता के गीत गाये जा रहे हैं। जैसे बालक को सुलाने के लिए माता लोरी गाती है और बालक अपनी बड़ाई सुनकर सो जाता है, उसी प्रकार आत्मा को जागृत करने के लिये यह कहा जाता है कि तू परमात्मा के समान है, पूर्ण चैतन्यमूर्ति है। बालक को सुलाने के लिये पालने में लिटाया जाता है और बालक लोरी गान सुनकर सो जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी संबोधित करते हैं कि—चौरासी के झूले को अपना मानकर अज्ञाननिद्रा में सो रहा है, तुझे जागृत करने के लिये गीत गाये जा रहे हैं, तुझे जागना होगा। माता के गीत तो सुलाने के लिये होते हैं, किन्तु यह गीत तुझे जगाने के लिये है। संसार और मोक्ष की रीति में इतना ही उल्टा सीधा अन्तर है। बालक की प्रशंसा करने पर वह सो जाता है, क्योंकि उसकी गहराई में बचपन की रुचि भरी हुई है, वह उसमें से बड़प्पन की बात पाकर संतुष्ट हो जाता है,

इसी प्रकार यह जीव मिथ्याबुद्धि के झूले में अनादिकाल से सो रहा है। अब तुझे तेरी प्रभुता की महिमा गाकर जागृत किया जा रहा है, यदि तू इन्कार करे तो यह नही चलेगा। त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवान ने जिस पद को पाया है उसी पद का अधिकारी तू भी है, इस प्रकार तेरे गीत गाये जा रहे हैं। शास्त्र भी तेरे गीत गाते है। जाग रे जाग! यह महामूल्य क्षण वृथा चले जा रहे है। तू अपने को न पहचाने, यह कैसे हो सकता है?

जो स्वाधीन ज्ञानानंदस्वरूप को अपना मानकर—जानकर उसमें स्थिर होता है वह स्वसमय आत्मा है, और पर को जो अपना मानता है जानता है और रागद्वेष में परवस्तु की ओर के झुकाव के बल से स्थिर होता है वह परसमयरूप होता हुआ अज्ञानी आत्मा है। एक की अवस्था का झुकाव स्व की ओर है और दूसरे का पर की ओर। अवस्था में उल्टा फिरने से संसारमार्ग और सीधा फिरने से मोक्षमार्ग होता है।

अपने और परद्रव्यों के आकारो को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से, जिसने एक साथ विश्व के समस्त रूप का ज्ञान प्रगट किया है। ऐसा भगवान आत्मा है। संपूर्ण पदार्थों का स्वरूप ज्ञात हो ऐसा गुणवाला होने से उसने लोकालोक को झलकाने वाला एकरूप ज्ञान प्राप्त किया है। दर्पण में लाखों वस्तुएं प्रतिबिम्बित होती है, किन्तु इससे दर्पण उन लाख वस्तुओ के रूप में नही हो जाता। दर्पण में कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं है, किन्तु उसकी स्वच्छता से ही ऐसा दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञानगुण ऐसा स्वच्छ है कि उसमें जानने योग्य अनंत पर-वस्तुऐं ज्ञात होती हैं। जानने वाला अपनी शक्ति को जानता है और वह दूसरे को जानता हुआ पररूप नही हो जाता, किन्तु अज्ञानी को अपने स्वभाव की खबर नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा अभिप्राय है कि केवलज्ञान होने के बाद आत्मा स्व को ही जानता है, पर को नहीं जानता। ऐसे एकाकार को मानने वालों का यहाँ निषेध किया गया है। तथा कोई कहे कि ज्ञान निज को नहीं जानता, पर को ही जानता है,

ा इस प्रकार अनेक आकार मानने वालों का भी निषेध किया गया है। जीव का स्वरूप जैसा है वैसा विरोधरहित न जाने तो जीव जागृत नहीं होगा।

और फिर आत्मा कैसा है, सो बताते हैं। अन्य द्रव्यों के जो मुख्य गुण हैं उनसे विलक्षण, असाधारण गुणवाला चैतन्यस्वरूप है। आत्मा के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं उनके विशेष गुण कहे जाते हैं। जैसे एक आकाश नामक पदार्थ है, उसका विशेष गुण अवगाहना है, इसप्रकार गतिसहायक, स्थितिसहायक और वर्तनासहायक इत्यादि लक्षणों का धारण करने वाले धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य हैं। यह पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से त्रिकाल है, पर-अपेक्षा से त्रिकाल नहीं है। छहों द्रव्य जगत में विद्यमान हैं, उन्हें युक्ति आगम और अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। रूपित्व पुद्गलपरमाणु का गुण है। पाँचों पदार्थों के गुणों का आत्मा में अभाव है, किसी के साथ सम्बंध नहीं है, किन्तु विपरीत मान्यता ने घर बना रखा है। एकबार पात्र होकर अपने अनंत केवलज्ञान स्वरूप को सुने और जाने तो उसकी महिमा आये बिना न रहे। अब यहाँ अस्ति-नास्ति का बतलाते हैं कि परवस्तु के गुण तुझमें नहीं हैं और तेरे गुण पर में नहीं हैं। तू ज्ञायक है, इसलिये तेरा मुख्य लक्षण जानना है। तुझसे ही तेरा धर्म प्रगट होता है, पर से गुण प्रगट नहीं होता। आत्मा का कोई गुण यदि पर से आये तो आत्मा निःसामान्य सिद्ध होगा। किन्तु तू अनंत गुण-स्वभाव से परिपूर्ण तत्त्व है। यदि उसे भूलकर पर का आश्रय ले तो क्या तू निःसामान्य वस्तु नहीं कहलायगा? आत्मा स्वयम् ही संपूर्ण सुख से परिपूर्ण है।

असाधारण चैतन्यरूपता, चैतन्यस्वरूपत्व, अभिन्न तथा ज्ञानघनता इत्यादि स्वभाव का अस्तित्व होने से आत्मा अन्य द्रव्यों से भिन्न है। उन विशेषणों से एक ब्रह्म वस्तु को ही मानने वालों का निषेध हो गया। जगत में अनंत परवस्तुएँ हैं। जगत, जगत में है, आत्मा में नहीं।

आत्मा पर से भिन्न है, परवस्तु आत्मा से त्रिकाल भिन्न है। इस प्रकार जहाँतक निर्णयपूर्वक न जाने वहाँतक जीव पृथक्त्व का भेदज्ञानज्योति का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा।

आत्मा अन्य अनंत द्रव्यों के साथ एक क्षेत्रावगाह में व्याप्त होकर व्यवहार से विद्यमान है; निश्चय से प्रत्येक आत्मा परक्षेत्र से नास्तिरूप है। द्रव्य अर्थात् अनंत गुण-पर्यायरूप वस्तु। क्षेत्र अर्थात् आत्मा की असंख्यप्रदेशरूप चौड़ाई। काल अर्थात् वर्तमान में प्रवर्तमान अवस्था। भाव अर्थात् त्रिकालरूप में द्रव्य की शक्ति अथवा गुण।

इस प्रकार आत्मा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप से-अपने-पन से है और परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से त्रिकाल में भी नहीं है। जैसे पानी के साथ बहुत समय से कंकड़ पत्थर भी एकत्रित चले आ रहे हैं तथापि पानी और कंकड़ पत्थर भिन्न भिन्न है। इसी प्रकार एक स्थान में प्रत्येक वस्तु के एकत्रित रहने पर भी कोई अपने स्वभाव से अलग नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा टंकोत्कीर्ण चैतन्य एक स्वभावरूप है। इस विशे- षण से वस्तुस्वभाव का निश्चय बताया है। ऐसा जीव नाम का पदार्थ समय है। समय अर्थात् [सम्+अय] एक साथ जानने और बदलने की क्रिया करे सो समय-आत्मा अथवा जीव है।

अब मोक्षमार्ग बतलाते हैं; -जीव का झुकाव किधर है यह बताते हैं। जब जीव का सीधी ओर झुकाव हो तब भेदविज्ञानज्योति प्रगट होती है, तथा जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करता है तब वह प्रगट होती है। यहाँ साधक भाव का वर्णन किया है। जब इस आत्मा में सर्व-पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में, जानने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदविज्ञानज्योति का उदय होता है तब वह सर्व परभावों से अपने को भिन्न जानने लगता है। मैं पर से निराला हूँ, शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पापरूप नहीं हूँ; चैतन्यज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ। अर्थात् पर से भिन्न हूँ। इस प्रकार की भेदज्ञान-

ज्योति के द्वारा पुण्य पाप उपाधिरहित पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव के लक्ष्य से, पर से भिन्न रागरहित होने की क्रिया साधक जीव करता है।

जैसे अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक गुण हैं। इसीप्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं। जैसे अग्नि पाचक गुण के द्वारा अनाज पकाती है उसीप्रकार आत्मा अपने दर्शन गुण से अपने सम्पूर्ण शुद्धस्वभाव को पका सकता है। जैसे अग्नि अपने प्रकाशक गुण के द्वारा स्व-पर को प्रकाशित करती है वैसे ही आत्मा अपने ज्ञान गुण के द्वारा स्व-पर प्रकाशक है। जैसे अग्नि अपने दाहक-गुण के द्वारा दाह्य को जलाती है उसीप्रकार आत्मा का चारित्र गुण विकारी भाव को सर्वथा जला देता है। अंधेरे में जाकर देखो तो सभी वस्तुएँ एकसी मालूम होंगी, उनमें भेद मालूम नहीं हो सकता, किन्तु दीपक के प्रकाश में देखने पर वे जैसी भिन्न भिन्न होती हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसी-प्रकार आत्मा को पर से भिन्न जानने के लिये पहले सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश चाहिये। यह सबसे पहली आत्मधर्म की इकाई है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान और अन चारित्र की एकता से ही धर्म होता है और वही यहाँ कहा जा रहा है।

आत्मा का स्वभाव कैसा है? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से कहा गया है।

विपरीतदृष्टि से ससार और सीधी दृष्टि से मोक्ष होता है। यहाँ यह बताया जारहा है कि धर्म क्योंकर होता है, इसलिये ध्यान रखकर सुनो! यह अनरग की अति सूक्ष्म बात है। भेदज्ञानज्योति को प्रगट करने से ही सर्व पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान का अर्थ है, पूर्ण-निर्मलज्ञानदशा। उसे प्रगट करने में जीव तब समर्थ होता है जब भेदज्ञानज्योतिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्ष का सर्वप्रथम उपाय आत्मा मे भेदज्ञानज्योति को प्रगट करना है, उसे सम्यग्ज्ञानज्योति कहते हैं। जैसे अधकार के कारण सभी वस्तुऐं पृथक् पृथक् मालूम नहीं होती, उसीप्रकार अज्ञानरूपी अधकार में मन,

-वाणी, देह, पुण्य, पाप इत्यादि जो कि आत्मा से भिन्न हैं, भिन्न नहीं मालूम होते। किन्तु जब भेदज्ञान से पृथक्त्व के बोध का उदय होता है, तब जीव सर्व परद्रव्यों से छूटकर निरालंबी होकर दर्शन, ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्ति करता है। जब इसप्रकार की श्रद्धा होती है कि मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप राग इत्यादि मैं नहीं हूं तब श्रद्धा में पर से छूटना होता है। यहाँ तो अभी मोक्षदशा कैसे प्रगट हो उसकी श्रद्धा अर्थात् पहिचान करने की बात है, वह प्रगट तो बाद में होती है। जैसे सूर्योदय से अंधकार का नाश होने पर प्रत्येक पदार्थ अलग अलग मालूम होता है, उसीप्रकार अंतरंग ज्ञानस्वरूप की ज्ञानज्योति से पहचान होने पर प्रत्येक स्व-पर वस्तु पृथक् पृथक् मालूम होती है। जैसे अग्नि का प्रकाश होता है वैसे ही यहाँ ज्ञान का प्रकाश है। परमाणु, देहादि और राग का अंश मेरा नहीं है। मन के संबंध से राग-द्वेष उत्पन्न होता है, उस संबंध से रहित अविकारी आत्मधर्म है। इसप्रकार की प्रतीति के अनुसार पुण्य-पापरहित और दर्शनज्ञानस्वरूप-स्थिरतारूप आत्मतत्त्व में एकाग्र होकर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है और क्रमशः वीतरागदशा प्रगट हो जाती है।

जिसे मुक्त होना है उसे उसकी परिभाषा जानना चाहिये। बंधनभावरूप अशुद्धदशा से मुक्त होता है या स्वभाव से मुक्त होना है? यह निश्चय करना होगा। अज्ञानी पर को मानता है इसलिये कभी बंधनभाव से नहीं छूट सकता। कोई कहे कि अभी पुण्य-पाप, देहादि से पृथक् आत्मा कैसे माना जा सकता है? उसके लिये ज्ञानी कहते है कि-मैं परमार्थतः मुक्त हूँ, पर से बद्ध नही हूँ, यह निर्णय तो पहले करना ही होगा। पहले श्रद्धा में से सर्व परद्रव्यों का संबंध छोड़ने पर यह प्रतीत होता है कि परवस्तु के साथ तीनकाल और तीनलोक में भी आत्मा का कोई संबंध नहीं है, इसलिये मेरा हित मुझमें मेरे ही द्वारा होना है। इसप्रकार अंतरंग में दृढ़ता हो जाती है।

पहले पात्रतानुसार खूब श्रवण करना चाहिये और सुने हुये भाव का मनन करना चाहिये, क्योंकि स्वयं कौन है, इसका अनादिकाल से

निमरण हो रहा है। और पर मेरे हैं, मैं पर काम कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकते हैं, इसप्रकार की विपरीतदृष्टि के कारण अनादिकाल से पर का स्मरण बना हुआ है। जगत में ऐसी बातों का परिचय भी बहुत है, इसलिये पहले सत्य को सुनकर सत्य-असत्य की तुलना करना आना चाहिये, तथा खूब श्रवण करके आदरपूर्वक अतरंग से हाँ कहना सीखना चाहिये। सत्समागम से सुनकर 'मै सिद्ध परमात्मा ही हूँ,' यह समझकर हाँ कहते कहते उसका अभ्यास हो जायगा और उससे आत्मस्वभाव की स्थिति प्रगट हो जायगी।

आत्मस्वभाव पर से भिन्न है, यह बात सुनते ही तत्काल भेद-ज्ञान हो जाता है, किंतु पर से भिन्न आत्मा कैसा है और कैसा नहीं, इसकी यथार्थ पहचान की बात होने पर जो जो न्यायपुरस्सर कहा जाता है उसे सुनकर मोक्षस्वभाव का प्रेम बढ़ना चाहिये। जिसे जिसका प्रेम है उसकी बात श्रवण करते हुये वह उकता नहीं सकता, इसीप्रकार आत्मा की सत्य बात का प्रेम होने पर आत्मा पर का कर्ता नहीं है, पर से निराला है, ऐसी बात सुनते हुये उकताना नहीं चाहिये, किन्तु उसे रुचिपूर्वक सुनना चाहिये। सर्वज्ञ द्वारा कथित यह सत्य है कि तेरा तत्व पर से निराला है, तूने उसका यथार्थ स्वरूप पहले कभी नहीं सुना था, इसलिये उसे सुनने के लिये प्रीतिपूर्वक ऐसा भाव होना है कि अरे! यह बात तो अनतकाल में कभी नहीं सुनी थी-ऐसी अपूर्व है। समझ पूर्वक उसके प्रति आदर होता है, उससे विरुद्ध बात का आदर नहीं होता। अनतकाल म धर्म के नाम पर जो कुछ किया है वह कुछ अपूर्व नहीं किया है, उसकी सत्य बात पहले ही अन्तरंग में रुचिगत होनी चाहिये।

• • असयोगी ज्ञानघन तत्व उस राग और परमाणु से भी भिन्न, पराश्रय-रहित, पूर्ण ज्ञानानन्दरूप है। आत्मा स्वाधीनतया सदा जानने वाला है। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है, जो क्षणिक मलिनता दिखाई देती है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पहले ज्ञान में स्वीकृति हो और राग

को टालने के लिये स्थिरतारूप क्रिया मुझमें, मेरे द्वारा हो सकती है, ऐसी श्रद्धा होने के बाद सर्व परद्रव्यों से, परावलम्बन से मुक्त होकर स्व में एकाग्र लीनतारूप चारित्र हो सकता है। किन्तु अभी स्थूल मिथ्यात्वरूप मान्यता से, अनादिकाल से यह मानता चला आ रहा है कि मैं पर की प्रवृत्ति कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकता है, पुण्य से गुण होता है, उससे धीरे धीरे धर्म प्रगट होता है; और ऐसी कल्पना किया करता है कि शरीर मेरा है, पर वस्तु मेरी है। इसप्रकार मानने वाले के धर्म कहाँ से हो सकता है? आत्मा बदलकर कभी जड़ नहीं होता, और जड़ पदार्थ आत्मा के नहीं हो सकते। परद्रव्य को छोड़ने की बात व्यवहार से है। वास्तव में तो आत्मा को किसी पर ने ग्रहण किया ही नहीं है। केवल मान्यता में ही पर की पकड़ थी कि राग मेरा है, पुण्य मेरा है, जड़ पदार्थ मेरे हैं, और इसप्रकार जड़ की अवस्था का स्वभाव मेरा है। इस विपरीत मान्यता से छूटना समस्त परद्रव्यों से छूटना है। आत्मा के भीतर कोई घुस नहीं गया है। भ्रम से पर में कर्तृत्व मान रखा है कि जड़-देहादि कि क्रिया मेरे द्वारा होती है और पर से मुझे हानि-लाभ होता है, इसप्रकार जो पर को और अपने को एक करके मान रहा था, उस विपरीत मान्यता का स्वभाव की प्रतीति से प्रथम त्याग करना चाहिये। उसके बाद ही वर्तमान में दूसरे की ओर झुकती हुई अस्थिर अवस्था को स्वरूप स्थिरता से छोड़ा जा सकता है।

मैं परमात्मा के समान अनंत आनंद और अपारज्ञान स्वभाव हूँ। जैसे भगवान हैं वैसे ही परमार्थतः मैं हूँ, ऐसी दृढ़ प्रतीति होने से सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। त्रैकालिक अविकारी स्वभाव का लक्ष होने पर वर्तमान क्षणिक अवस्था में जो अल्पराग का भाव रहता है उसे नहीं गिनता। ज्ञान की तीव्र एकाग्रतारूप ध्यानाग्नि के द्वारा सर्व राग के नाश करने की श्रद्धा विद्यमान है, इसलिये उसके बल से राग हटता हुआ दिखाई देता है। जैसे अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक शक्तियाँ विद्यमान हैं उसीप्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण विद्यमान हैं। आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न है, उसकी अनंत चैतन्यशक्ति भी शुद्ध है।

वर्तमान अवस्था में कर्म का निमित्त है, उसे लक्ष में न लेकर त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूप में देखा जाय तो वह शुद्ध ही है। आत्मा में जो अशुद्ध अवस्था होती है उसकी स्थिति एक समयमात्र की है। विकारी भाव दूसरे समय में करता है सो वह भी मात्र उस समय के लिये ही करता है। उस क्षणिक अवस्थारूप मैं नहीं हूँ, मैं तो नित्य हूँ। शुद्धता अथवा अशुद्धता वर्तमान पर्याय में होती है, द्रव्यदृष्टि से देखने पर द्रव्य में वह भेद नहीं है। आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है, उसकी एक समय की वर्तमान अवस्था प्रगट होती है, और दूसरी त्रिकाली अवस्था अप्रगट होती है, अर्थात् शक्तिरूप से होती है। संसारी आत्मा में भी अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि गुण अप्रगट शक्तिरूप से हैं।

आत्मा में समय समय पर होने वाली विकारी अवस्था प्रवाह से अनादि की है, वह अवस्था क्षणिक होने से दूर की जा सकती है। आत्मा का स्वभाव रागद्वेष का नाशक है, किन्तु उत्पादक नहीं। चैतन्य का स्वभाव वस्तु को जानने वाला है, अवगुणरूप होकर जानने वाला नहीं है। न्यायपूर्वक विचार करने से मालूम होता है कि जिसको दूर करना चाहता हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि पर से भिन्न अकेला रहना निज का स्वभाव है। और मैं पर में परद्रव्य-बुद्धि को दूर करके स्व में रहना चाहता हूँ। पूर्ण होने से पहले पूर्णस्वभाव की श्रद्धा करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना पूर्ण की ओर का पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

तो पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है। स्वतंत्र, निरावलंबी तत्व को समझे बिना धर्म नहीं होता, ऐसा नियम है। सर्वज्ञ कथित इस त्रैकालिक नियम में अपवाद नहीं हो सकता।

यथार्थ आत्मस्वरूप को समझे बिना देहादि की क्रिया की बातों में और उसके झगड़े में जगत लगा रहता है। आत्ममार्ग तो अंतरंग अनुभव में है। अनादि से विपरीतता के कारण जीव ने जो कुछ मान रखा है वह यथार्थ नहीं है।

सुख अथवा दुःख जड़ में नहीं है, किंतु परवस्तु की ओर झुकने का जो भाव है वही दुःखरूप है। तीव्रकषाय अधिक दुःख है और मंदकषाय थोड़ा दुःख है। उसे लोग सुख मानते हैं, किंतु वे दोनों आत्मगुणरोधक हैं। जैसे धुआँ अग्नि का स्वभाव नहीं है, किन्तु गीली लकड़ी के निमित्त से वर्तमान अवस्था में जो धुआँ दिखाई देता है, वह अग्नि का स्वरूप नहीं है। क्योंकि अग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे धुआँ दूर हो जाता है, उसी-प्रकार चैतन्य स्वभाव राग-द्वेष के धुएँ से रहित है। वर्तमान अवस्था में कर्म के निमित्त से शुभ या अशुभवृति का मैल उठता है, किन्तु वह आत्मस्वरूप नहीं है। अल्प मैल का फल अल्प दुःख है, जिसे पुण्य कहा जाता है और अधिक मैल का फल अधिक दुःख है, जिसे पाप कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव में जीव के एकाग्र होने पर और ध्यान-रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर वह मैल दूर हो जाता है। शुभ और अशुभ दोनों भाव विकार हैं, दोनों को कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ मैल जानकर जो उसे दूर करना चाहता है वह दूर करने वाला मैं निर्मल हूँ। जिसकी ऐसी दृष्टि होती है वह उसे दूर कर सकता है।

त्रिकाल पूर्ण, निर्मल, निराकुल स्वभाव के लक्ष से वर्तमान क्षणिक शुभाशुभ आकुलतारूप भाव दूर किया जा सकता है, इसलिये पहले ही पूर्णस्वभाव की प्रतीति करने का कथन किया है। संपूर्ण दशा प्रगट होने से पहले आत्मा अपारआनन्दरूप, निर्मल, पवित्र है, ऐसी जो सम्यक्-प्रतीति करता है वह संपूर्ण दशा को प्राप्त करता ही है। यहाँ कोई

कहता है कि प्रगट होने के बाद मानूँगा, उसके लिए कहते है कि परमात्मदशा प्रगट होने के बाद मानने को क्या रहेगा ?

मैं परमात्मस्वरूप ही हूँ, पुण्य-पाप के बंधनवाला नहीं हूँ, ऐसी सम्यक्-श्रद्धा में पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने की सामर्थ्य है और उसके बल से वह पूर्णता को प्रगट करता है, इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय कोई बतावे तो वह सत्य नहीं है।

जिस वस्तु की आवश्यक्ता हो वह कैसा है, कैसे मिले, और कहाँ से मिले ? इत्यादि बातों का ज्ञान पहले से ही निश्चय करता है। जैसे किसी को हलुवा बनाना है वह उसके बनाने से पहले अमुक वस्तुओं से वह बनेगा ऐसी प्रतीति करता है, और फिर आटा, घी, शक्कर लेकर बनाने का परिश्रम करता है उसीप्रकार आत्मा चिदानंद,भगवान, निर्मल, वीतराग है, पर से त्रिकाल भिन्न है, उसको यथास्वरूप से पहचानने का अभ्यास करे उसके लिए निवृत्ति लेकर सत समागम, श्रवण-मनन करे तो अपूर्व सत्य समझ में आता ही है, किन्तु जिसे इस बात की रुचि नहीं है वह इस बात के कान में पड़ते ही कहता है कि यह बात हम नहीं मान सकते, क्योंकि जो देखने में नहीं आता वह कैसे माना जा सकता है ? किन्तु यदि स्वभाव का विश्वास करके देखे तो सभी समय पूर्ण परमात्मस्वभाव है। आत्मा मनुष्य भी नहीं है, ऐसा जानकर और वर्तमान विकारी अवस्था का लक्ष्य छोड़कर, अखंड ज्ञायकस्वरूप को ही मानकर यदि उसमें स्थिर हो तो संयोग और विकार दूर हो जाता है।

" मैं पूर्ण परमात्मा हूँ, राग और पुद्गल-परमाणुमात्र मेरे नहीं हैं, मुझे पर का आश्रय नहीं है, " ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन, ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा ऐसे दर्शन ज्ञान से जाने हुए स्वरूप में स्थिरतारूप क्रिया चारित्र है।

जैसे वकील अपने ही पक्ष का समर्थन करता है, उसके विरोधी का चाहे जो हो उसे वह नहीं देखता, इसीप्रकार सर्वज्ञभगवान का न्याय

आत्मा के ही पक्ष में होना है। लौकिक न्याय (नियम) में तो देश, काल के अनुसार परिवर्तन होता है, किन्तु आत्मधर्म में वैसा नहीं होता। कहा है कि:—

" एक होय त्रणकाल मां, परमारथ नो पंथ।
प्रेरे ते परमार्थ ने, ते व्यवहार समंत ॥"

(आत्मसिद्धि पद ३६)

पूर्ण अखण्ड स्वभाव का लक्ष परमार्थ है। पुण्य-पाप परिणामरहित, पराश्रयरहित, दर्शन, ज्ञान, चारित्र का साधकत्व उस परमार्थ का साधक व्यवहार परमार्थ का पंथ है।

जब यह जीव भेदज्ञानज्योति प्रगट करके परभाव से छूटकर स्वरूप में स्थिर होता है अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र में अन्तरंग से एकत्वरूप में लीन होकर रमणता करता है, तब केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है।

प्रश्न—क्या वास्तव में मन सहायक है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्व अपेक्षा से है, और पर अपेक्षा से नहीं है। आत्मा स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। आत्मा में परवस्तु असत् है। जो उसमें नहीं है वह उसका क्या कर सकता है? जो पृथक् वस्तु है, उसे परवस्तु तीनकाल और तीनलोक में सहायक हो ही नहीं सकती, अर्थात् मन जो कि आत्मा से भिन्न है, आत्मा का सहायक हो ही नहीं सकता।

जीव नाम का पदार्थ 'समय' है। जब जीव समस्त पदार्थों के स्व-भाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेद-ज्ञानज्योति का उदय होने से, समस्त परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञान-स्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्व के साथ एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकतारूप से एक ही समय जानता हुआ तथा परिणमन करता हुआ 'स्वसमय' है; ऐसी श्रद्धा का होना मोक्षमार्ग कहा है।

अब अनादि का यथार्थ कैसा है सो कहते हैं—पहले अनुकूलता के गीत गाये, अब प्रतिकूलता की बात कही जाती है। अनादि अविद्या-रूपी केलस्तंभ की तरह पुष्ट हुआ मोह है, उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन-ज्ञानस्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से छूटकर, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-रागद्वेषादि भावों में एकत्वरूप से लीन होकर जीव जब प्रवृत्ति करता है तब पुद्गलकर्म के कार्माण-स्कंधरूप प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने (आत्मा के) साथ एकरूप से एक काल में जानता हुआ और रागादिरूप परिणमन करता हुआ 'परसमय' है। इसप्रकार प्रतीति की जाती है।

अनादिकालीन मोह के उदयानुसार परवस्तु को अपनी माननेरूप जो पराश्रित भाव होता है वह आत्मा में सदा नहीं रह सकता। अज्ञान भी नित्य नहीं रहता, तथापि जीव में वह अनादि से है, इसलिये यह निश्चय हुआ कि जीव पहले शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न—जब कि अज्ञान अनादि से है तब उसका नाश कैसे होगा?

उत्तर—जैसे चने से पौधा होता है, और पौधे से चने होते हैं, किन्तु यदि चना भून लिया जाये तो वह फिर नहीं उगता, इसीप्रकार रागद्वेष-अज्ञानरूप अवस्था है, उसका एक बार नाश होने पर वह फिर उत्पन्न नहीं होती।

जिसकी अनादि से देहादि के ऊपर दृष्टि है उससे कहते हैं कि "यह तू नहीं है, तू पुण्य-पाप-देहादि के संयोग से भिन्न है," सो तो उसे रुचता नहीं है, तथापि ज्ञानी कहता है कि हम स्वयं अनुभव करने के बाद कह रहे हैं कि तू अपार सामर्थ्यवान अनंतगुणरूप है, उसकी ओर दृष्टि कर। पर के आश्रय से होने वाला विकार क्षणिक है, वह तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मुक्त, सिद्ध के समान है।

ऐसी सच्ची बात कभी नहीं सुनी, इसलिए 'हाँ' कहने में कठिनाई मालूम होती है। यदि बाह्य की बात की जाय तो तत्काल ही हकार करता है।

यहाँ अनादि अविद्या (पर को अपना मानना और स्वयं को भूल जाना) को केल की उपमा क्यों दी गई है? सो कहते हैं:—जैसे केल की गांठ में से केल के अनेक पुर्त फटते जाते हैं, उसीप्रकार अज्ञान-रूपी केल में से राग-द्वेष-तृष्णारूपी अनेक प्रकार के पुर्त फूटते रहते है, और उनका फल चौरासी लाख का अवतार ग्रहण होता है।

यदि अपनी मानी हुई कोई बात आती है तो तुरन्त ही 'हाँ' कहता है, और यदि अपनी मान्यता से भिन्न बात कही जाय तो डंके की चोट नकार देता है।

मोह का अर्थ है स्वरूप की असावधानी। उसके द्वारा अनादि से परवस्तु मेरी है, पुण्य पाप मेरे हैं, इसप्रकार जीव मानता है। ऐसी पराधीनदृष्टि होने से उसको स्वतंत्र होने की बात अच्छी नहीं लगती। तू प्रभु है, पूर्ण है, निर्विकारी है; उसकी श्रद्धा कर। स्वभाव की 'हाँ' भरने से अतरंग से अनन्त बल आयेगा।

शुभ भाव भी आत्मस्वभाव में सहायक नहीं है। ऐसी समझ के बिना मात्र पुण्य की क्रिया की, और इसीलिये जो यह जीव अनन्तवार नवमें ग्रैवयक तक गया उसकी श्रद्धा व्यवहार से तो बहुत स्पष्ट होती है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यवहार शुद्धि के बिना नवमें ग्रैवेयक तक जा नहीं सकता, किन्तु अन्तरंग में परमार्थ श्रद्धान नहीं हुआ, इसलिये इसका भव-भ्रमण दूर नहीं हुआ।

जैसे किसी ने पहला घड़ा उल्टा रक्खा हो तो उसके ऊपर रखे गये सभी घड़े उल्टे ही रहते हैं; इसीप्रकार जिसकी श्रद्धा विपरीत है उसका ज्ञान-चारित्र भी विपरीत होता है। इसलिये पहले से ही सच्चा स्वरूप समझने की आवश्यक्ता है। सत्य के समझने में देर लगती है

इसलिए कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि जल्दी करके विपरीत मानले तो हानि अवश्य होगी ।

बाह्य मान्यता ने घर कर लिया है, इसलिए जीव को लौकिक प्रवृति में मिठास मालूम होती है और पुण्य--पाप रहित शुद्ध आत्मधर्म की मिठास मालूम नहीं होती, प्रत्युत ऐसी बात सुनकर बाह्यदृष्टि वाले जीव निन्दा और द्वेष करते हैं ।

यह जीव जितना समय पर के लिये लगाता है उतना समय यदि अपने लिये लगाये तो कल्याण हुए बिना न रहे । हे भाई ! अनन्त-काल में यह महादुर्लभ मनुष्य भव मिला है, इसमें यदि कल्याण नहीं किया तो फिर कब करेगा ?

यद्यपि पुण्य को धर्म मानने का निषेध किया गया है, किन्तु पाप से बचने के लिए पुण्य करने का निषेध नहीं है । हाँ, पुण्य से धीरे धीरे आत्मगुण प्रगट होगा, ऐसी अनादि कालीन विपरीत मान्यता का निषेध मोक्षमार्ग में है । अज्ञानी जीवों ने राग की प्रवृत्ति को कर्तव्य मान रखा है। पुण्य-पाप का भाव मुझे सहायक होगा, शरीर, मन, वाणी, मेरे सहायक होंगे, पर का मैं कुछ कर सकता हूँ, पर मेरा कुछ कर सकता है, इसप्रकार पर में एकत्व की मान्यता से पुष्ट हुई मोहरूप भ्रांति चली आरही है। इसलिए अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करके विकार भाव में एकत्व भाव से लीन होकर जो जीव प्रवृत्ति करता है, पर में कर्तृत्वरूप पराधीनता के द्वारा निर्मल दर्शन-ज्ञानस्वभाव से छूटकर परवस्तु को निजरूप मानता हुआ परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष, मोह में एकत्वरूप से लीन होकर परिणमन करता है, वह परसमय है, वह जीव अधर्मी है, अनात्मा है और अपनी हिंसा करने वाला है।

समय का अर्थ है आत्मा, उसका जो पूर्ण-पवित्र स्वरूप है सो समयसार है। आत्मा के अनन्त-आनन्दमय शुद्ध पवित्र स्वरूप का निर्णय

करना सो सम्यक्दर्शन है। यहां अन्धश्रद्धा से मान लेने की बात नहीं है, किन्तु भलीभांति परीक्षा करके निःसंदेहरूप से स्वरूप को मानना सो सम्यक्श्रद्धा है।

आत्मा में मन के अवलंबन से जो शुभ-अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। मन जड़ है, वह आठ पाखुड़ी के कमल के आकार वाला है, उसका स्थान हृदय में है, जैसे स्पर्श इत्यादि को जानने में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं, उसीप्रकार विचार करने में मन निमित्त होता है। वह बाह्य—स्थूल इन्द्रियों जैसा दिखाई नहीं देता।

प्रश्न:—तब फिर मन है, यह कैसे जाना जायगा?

उत्तर:—यदि ज्ञान अकेला स्वतंत्र कार्य करता हो तो परावलंबन न हो, और क्रम भी न हो, किन्तु जब विचार में क्रम पड़ता है तब मन का निमित्त होता है। पाँच इन्द्रियों के द्वारा जो विषयों का ज्ञान होता है उन इन्द्रियों के संबंध का ज्ञानोपयोग बदलकर अंतरंग में विचार करने पर एक के बाद दूसरा क्रम पूर्वक विचार आता है, तब इन्द्रियों में प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि विचार में क्रम पड़ता है। वह परावलबन को सिद्ध करता है। बाह्य परावलंबनरूप द्रव्य-मन है। वह विचार में सहायता नहीं करता, किन्तु वह निमित्त मात्र है। ज्ञान अपने ज्ञान-स्वभाव के द्वारा ही जानता है। परवस्तु आत्मा की सहायता कर ही नहीं सकती।

लोगों में आजकल सच्चे तत्व की बात नहीं चलती। धर्म के नाम पर बहुत सा परिवर्तन हो रहा है, कुछ लोग आत्मा को देह और वाणी से पृथक् कहते हैं, किन्तु वह मन से भी भिन्न है; संकल्प-विकल्परूप पुण्य-पाप की वृत्ति से भी भिन्न है। वह पर के आश्रय के बिना स्व में रहने वाला है, और स्वतन्त्रतया सबको जानने वाला है, ऐसा नहीं मानते; इसलिये उनको धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता। धर्म बाह्य में नहीं किन्तु अपने में ही है। जिसे यह ज्ञात नहीं है कि

देह, वाणी और मन से रहित धर्मस्वरूप आत्मा स्वयं ही है। जो पर के ऊपर लक्ष रखता है, तथा यह मानता है कि पर सहायक होता है, पर के अवलम्ब से लाभ होता है, वह झूठा है। निमित्त पर है, और पर की स्व में नास्ति है, इसलिए निमित्त पर का कुछ नहीं करता, किन्तु स्वयं परावलम्बन में (रागादि में) रुककर हीन हो जाता है। जब यह विकार करता है तब सन्मुख जिस वस्तु की उपस्थिति होती है उसको निमित्त कहा जाता है। निमित्त किसी का बिगाड़ता अथवा सुधारता नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं अपने को भूलकर पर के ऊपर आरोप करता है। इन्द्रिय विषयों में या स्त्री, मकान, आभूषणादि में सुख नहीं है, किन्तु स्वयं अज्ञान से कल्पना करता है कि पर में सुख है, संयोग में सुख-दुःख है। स्त्री पुत्रादि इसप्रकार चलें तथा इसप्रकार बोलें तो ठीक और इसप्रकार चलें तथा इसप्रकार बोलें तो ठीक नहीं, इसप्रकार अपनी रुचि के अनुसार अच्छे-बुरे की कल्पना करता है। कहीं सुख-दुःख दृष्टि से नहीं देखा मात्र कल्पना से मान लिया है। सुख का निर्णय मैंने कहाँ किया है, यह भी किसी दिन विचार नहीं किया, तथापि वहाँ शंका नहीं करता। विषयों में सुख की कल्पना करना अरूपी मात्र है, वह दिखाई नहीं देता, फिर भी बिना विचार किए उसको मान लेता है। वहाँ यह तर्क नहीं करता कि आँखों से देखूँगा तभी मानूँगा। पर में सुख है, यह जिसप्रकार विपरीत ज्ञान से निश्चय किया है, उसीप्रकार मन, इन्द्रिय, देहादि मेरा स्वरूप नहीं है, मैं सभी को जानने वाला हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप सदा पर से भिन्न हूँ, मैं क्षणिक विकारवान नहीं हूँ, मैं पूर्ण स्वतंत्र सुख-रूप हूँ, ऐसा विचार पूर्वक यथार्थ निर्णय स्वयं ही कर सकता है। यथार्थ निर्णय करके उसमें एकाग्र होने से सच्चा सुख प्रगट होता है।

यदि वर्तमान में ही पूर्ण स्वतन्त्रदशा प्रगट हो तो अविकारी दशा प्रगट हो, और अविकारी दशा हो तो अनन्त-आनन्द दशा प्रगट हो। किन्तु वर्तमान में विकार है, इसलिए भेदज्ञान शक्ति के द्वारा राग-द्वेष-मोह से आत्मा को पृथक् करने का प्रयत्न करना पड़ता है।

"पुद्गल कर्म प्रदेश स्थित है" इसका अर्थ है कर्म विपाक में युक्त होना। जैसे चावल पकते हैं, वृक्ष में फल लगते हैं, उसीप्रकार कर्म परमाणु में विपाकरूपी फल देने की शक्ति प्रगट होती है तब अज्ञानी उसमें राग-द्वेष भाव से युक्त होता है, उसको अपना स्वरूप मानता है और उसमें उसकी प्रवृत्ति-स्थिरता होती है। इसलिए यह 'परसमय' अधर्मी है, ऐसा जानना चाहिए। संभव है यह वचन कठोर मालूम हों, किन्तु वे सच्ची वस्तु-स्थिति को दिखाते हैं, इसलिये सत्य हैं। जिसने निज को स्वतन्त्र, निर्मल ठीक नहीं माना उसने परको ठीक माना है, और इसलिये निज को भूलकर वह पर के राग में अटक रहा है।

यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो तो पूर्ण ध्यान रखकर समझना चाहिए, आत्मा सूक्ष्म है इसलिए उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। एक 'स्व की समझ' के बिना अन्य सब अनन्त बार किया है। आत्मा की परम सत्य बात किसी ही विरले स्थानपर सुनने को मिलती है, यदि कोई धर्म सुनने जाये तो वहाँ कथा कहानियां सुनाई जाती हैं, बाह्य की प्रवृति बताई जाती है, बाह्य क्रिया से संतोष मनवाकर-धर्म के स्वरूप को शाक-भाजी कि भांति सस्ता बना दिया गया है। जो बात अनन्त काल में नहीं समझी गई उसे समझने के लिए तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिये। लौकिक बात और लोकोत्तर बात बिल्कुल भिन्न होती है। यदि यह बात जल्दी समझ में न आये तो इन्कार मत करना, जो अपना स्वाधीन स्वरूप है वह ऐसा कठिन नहीं हो सकता कि समझ में ही न आये, मात्र सत् समझने का प्रेम चाहिए। आचार्यदेव ने कहा है कि मैं अपनी और तुम्हारी आत्मा में सिद्धत्व स्थापित करके यह तत्त्व बतलाता हूँ।

अनजान व्यक्ति को ऐसा लगता है कि प्रति दिन एक ही बात क्यों की जाती है। किन्तु अरे भाई ! आत्मा तो सभी को जानने वाला है, पर का कर्ता नहीं है। अजीव के ऊपर किसी आत्मा की सत्ता नहीं चलती। भगवान आत्मा तो पर से भिन्न, ज्ञाता, साक्षी, अरूपी है, देहादि जड़ रूपी हैं, उनका कार्य अरूपी जीव कभी नहीं

कर सकता। ऐसी 'दो और दो चार' जैसी स्पष्ट बात बुद्धि वालों को कठिन कैसे लगती है? रूपी का कार्य अरूपी के नहीं होता, क्योंकि दोनों पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं। एक जीव दूसरे जीव का किसी समय कुछ नहीं कर सकता।

लोग कहते है कि जसी इच्छा की जाय उसीप्रकार जड की क्रिया होती है, वह स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु यही विपरीतदृष्टि का भ्रम है। "मै करता हूँ, मै करता हूँ," यही मान्यता अज्ञान है। जैसे गाडी के नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है, उसी तरह जीव को देह से प्रथक्त्व का-साक्षीपने का भान नहीं है, इसलिए परका कर्ता होकर ऐसा मानता है कि "मै करता हूँ, मै करता हूँ।" शरीर अनंत परमाणुओं से बना हुआ है। उसका परिणमन तेरे आधीन नहीं है। शरीर, मन, वाणी से आत्मा पृथक् है, ऐसा न मानकर पर में एकत्वबुद्धि करके, विकार को अपना मानकर जीव रागरूप से परिणमन करता है, उसके 'परसमय' बताया गया है।

भावार्थ—जीव नामकी वस्तु को पदार्थ कहा है। 'जीव' शब्द जो अक्षरों का समूह है सो पद है, और उस पद से जो द्रव्य-पर्यायरूप अनेकांतपना निश्चित किया जाता है सो पदार्थ है।

आत्मा पर अपेक्षा से नहीं है, और स्व अपेक्षा से है, यह अनेकांत है। प्रत्येक पदार्थ स्व अपेक्षा से है सो 'अस्ति' और पर अपेक्षा से नहीं है सो 'नास्ति' है। प्रत्येक वस्तु में ऐसे दो स्वभाव हैं। जो स्व अपेक्षा से है वह यदि पर अपेक्षा से हो जाय तो स्वय प्रथक् न रहे। और जो पर अपेक्षा से नहीं है, उसी प्रकार स्व अपेक्षा से भी नहीं है, ऐसा माना जाये तो स्व का अभाव हो जाय। लकड़ी लकड़ी की ही अपेक्षा से है, और दूसरी अपेक्षा से 'नहीं है। इसप्रकार लकड़ी को देखकर निश्चय होता है। इसीप्रकार अस्ति-नास्ति दोनों एक पदार्थ के स्वतंत्र धर्म हैं।

गुड़ शब्द से गुड़ पदार्थ का निश्चय होता है। शब्द में पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार जीव शब्द में जीव वस्तु नहीं है, और जीव पदार्थ में शब्दादि नहीं हैं। यहाँ जीव शब्द कहा है, उसके द्वारा जीव पदार्थ को द्रव्य-पर्यायस्वरूप से निश्चय किया जाता है। उसे सात बोलों में कहा है:—

(१) प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र द्रव्य, द्रव्य—पर्यायस्वरूप से अनेकांतत्व निश्चय किया जाता है।

(२) जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। क्षण-क्षण में एक के बाद एक पर्याय बदलकर नित्य स्थिर रहता है।

(३) दर्शन-ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है।

(४) द्रव्य अनंत गुणमयी, अनंत धर्मस्वरूप होने से गुण-पर्याय वाला है।

(५) स्व-पर को जाननेवाला स्वभाव से अनेकाकाररूप एक है, अर्थात् अनेक को जानकर अनेकरूप नहीं हो जाता।

(६) और वह आकाशादि से भिन्न, असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है।

(असाधारण अर्थात् पर से भिन्न गुण। यह उसका स्थूल अर्थ है। असाधारणगुण का सूक्ष्म अर्थ ऐसा है कि ज्ञानगुण के अतिरिक्त अनंतगुण जो आत्मा में हैं वे सब निर्विकल्प हैं, वे स्व-पर को नहीं जानते। मात्र एक ज्ञानगुण ही स्व को और स्व से भिन्न समस्त गुण—पर्यायों को जानता है, इसलिये असाधारण है।

(७) अन्य द्रव्य के साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, ऐसा जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जब वह अपने स्वभाव में स्थिर रहता है अर्थात् स्व में एकत्वरूप से परिणमन करता है तब तो 'स्वसमय' है और जब पर में एकत्वपने से लीन होकर राग-द्वेषरूप से परिणमन करता है तब 'परसमय' है।

इसप्रकार जाव के द्विविधत्व होता है। अब समय के द्विविधत्व में आचार्य बाधा बतलाते है। मैं पुण्य-पापरहित निर्मल हूँ, ऐसा मानकर जो ठहरना है सो स्वसमयरूप मोक्ष भाव है और पर मेरे हैं ऐसा मान कर पुण्य-पाप के विकारा भाव का कर्त्ता होकर उसमे परिणमित होता है-स्थिर होता है सो वह पर समयरूप बंध भाव है।

जीव मे जब मोक्षभाव होता है तब बंध भाव नहीं होता। जीव स्वभाव से एकरूप है तथापि उसे दो प्रकार बतलाना सो दोष है।

ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप एक ही प्रकार से रहना ठीक है। इसलिये अपना जैसा स्वरूप है वैसा एकत्व समझकर प्राप्त कर लेना ही सुंदर है, और उससे विपरीतता शोभारूप नहीं है। इस अर्थ की गाथा निम्न प्रकार है

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुंदरो लोके।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है वह लोक में सर्वत्र सुंदर है, इसलिये एकत्व में दूसर के साथ बंध की कथा विसंवाद-विरोध करने वाली है।

इस गाथा में बहुत बड़ी गहरी बात है, अपार रहस्य भरा है। प्रत्येक गाथा में मोक्ष का अमोघ मंत्र भरा है, किन्तु वाणी में सब नहीं आ सकता। जिसके ४-५ गाड़ी अनाज पैदा होता है उसके काम करने वाले थोड़ा अनाज ले जाते हैं, किन्तु जहाँ हजारों मन अनाज पैदा होता है उसके काम करने वाले अधिक ले जाते है। इसीप्रकार जिसके मति-श्रुतज्ञान सम्यक् होता है, उसके विचार, वाणी और व्यवहार की अमुक निर्मलता के पाक में से थोड़ासा कथन प्राप्त होता है, किन्तु जिनको साक्षात् केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है उन सर्वज्ञ भगवान की धारा-

प्रवाही वाणी साक्षात् श्रवण करने वाले गणधर देवों को अधिकाधिक मिलती है। यह समयसार शास्त्र साक्षात् भगवान की वाणी से आया है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर भगवान साक्षात् विराजते हैं, उनके मुखकमल से वाणी का प्रवाह छूटता है। सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव को एक समय में वे जान रहे हैं। चार कर्मों को नाश कर तेरहवीं भूमिका में (गुणस्थानमें) सर्वज्ञ वीत-रागदशा में परमात्मपद पर विराज रहे हैं। धर्मसभा में उनकी दिव्य-ध्वनि सहज छूटती है। हजारों धर्मात्मा संत मुनि उसका लाभ ले रहे हैं। पहले भरत क्षेत्र में भी ऐसा ही था।

विक्रम संवत् ४९ के लगभग श्री भगवान कुन्दकुंदाचार्य देव भरतक्षेत्र से महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे, वहां आठ दिन रहकर खूब श्रवण,-मनन करके भरतक्षेत्र में वापिस आए और 'समय-सार', 'प्रवचनसार' इत्यादि शास्त्रों की रचना की। भगवान के पास श्री कुंदकुंदाचार्य गये थे, यह बात सत्य है। साक्षात् तीर्थंकर भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ 'समयसार' का भाव उनने ४१५ गाथाओं में सूत्ररूप से गूंथा है। वर्तमान काल के जीव उनका कहा हुआ समस्त ज्ञान सम्पूर्ण भाव से समझ नहीं सकते। जितने में अपना पेट पूरा भरे उतना ग्रहण कर सकते हैं; उनके जैसा चारित्र नहीं पाल सकते, किन्तु एकावतारी हो सकने के लिए वैसी सामर्थ्य वर्तमान में भी है। अपनी तैयारी के विना कौन मानेगा और उसे स्वयं जाने विना क्या खबर पड सकती है? घी की प्रसंशा सुनने वाला घी का स्वाद नहीं जानता, और खाने वाले को देखने से भी घी का स्वाद नहीं आता, किन्तु स्वय घी का लौंदा मुंह में डालकर एकाग्र हो तो उसके स्वाद का अनुभव कर सकता है। उसीप्रकार अतीन्द्रिय-आनन्दस्वरूप आत्मा की प्रशंसा सुने अथवा उसकी कथा सुने तो उतने मात्र से उसका आनन्द नहीं आता, और उस वस्तु के जानकार जीव को देखे तो भी खबर नहीं पडती किन्तु उसे जान-कर स्वरूपलीनता के द्वारा स्वय अनुभव करे तब उसके आनन्द का अनुभव कर सकता है।

आत्मा का सत्स्वरूप भलीभांति श्रवण करना चाहिये, श्रवण करने के बाद उसका गूढ भाव अंतरंग में प्राप्त करके वस्तु का स्वय निर्णय करके अनुभव करना चाहिए। उसके लिए विशेष निवृत्ति लेना चाहिए, बारबार स्वाध्याय और चर्चा करना चाहिए। उसमे उकताना नहीं चाहिए। बारहवें स्वर्ग में से देव भी बडे पुण्य की समृद्धि को छोड़कर यहाँ मनुष्य लोक मे धर्म श्रवण करने को आते है। स्वय ज्ञानी होने पर भी तत्त्व की रुचि में विशेष निर्णय करने और तीर्थंकर भगवान की वाणी सुनने के लिए वे धर्मसभा मे आते है।

यहाँ यह कहते हैं कि जो स्वाश्रय है सो सुन्दर है, किन्तु पराश्रय में मग्न होने से वह असुन्दर है। लोक में कहा जाता है कि "पराधीन सपने हु सुख नाहीं।" स्वाधीनता में दूसरे का मुख नहीं ताकना पडता। एकत्वदशा कितनी सुन्दर है! बन्ध सबन्ध के विकार का कथन विसवाद करने वाला है। एकमात्र चिदानन्द की बात सुन्दर है, और पर के साथ बन्धन भाव की कथा असुंदर है। एक मे बन्ध नहीं होता। परवस्तु के सयोग से, पराश्रय से बन्ध होता है। आचार्य कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्मा को हीन या पर की उपाधि वाला कहना पडे यह बात शोभा नहीं देती, किन्तु क्या किया जाय! अनादि मे बन्धन भाव हैं, इसलिए ऐसा कहना पड़ता है।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को शक्ति की अपेक्षा मे सबका ज्ञाता होने मे "महान्" कहा है। इसलिये 'पर मुझे हैरान करता है' ऐसा जो मानता है उसको यह बात शोभा नहीं देती। तेरा अपार सामर्थ्य की महिमा गाई जा रही है। श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि —

"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठु ज्ञान मा,
कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो।
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी ते शु कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्यु ते ज्ञान जो॥"

(अपूर्व अवसर, गाथा २०)

आत्मा का अरूपी निर्मल ज्ञानानंद स्वरूप साक्षात् केवलज्ञान में भगवान ने जाना है, वह स्वरूप लक्ष्य में पूर्ण होने पर भी वाणी से पूरा नहीं कहा जा सकता। ऐसा भगवान आत्मा मन और इन्द्रियों के अवलंबन के बिना केवल अंतरंग के अनुभव से ही जाना जा सकता है।

लोक में कहा जाता है कि मुझ जैसा कोई बुरा नही है, किन्तु ऐसा क्यों नहीं कहता कि मुझ जैसा कोई भला नहीं है? कोई किसी को बुरा नही कर सकता। स्वयं अपने में बुरा भाव कर सकता है, और उससे अपना ही अहित होता है। आचार्य देव कहते हैं कि स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप निजमें एकरूप है, उसमें बंधपने की बुरी बात करना लज्जाजनक है। संसार में पर को बुरा कहकर आनन्द माना जाता है, तब आचार्य देव को आत्मा को विकार और बंधन वाला कहने में लज्जा मालूम होती है। संसार में परिभ्रमण करने वाला बुराई में-विकार में पूरा होना चाहे तो भी उसमें पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि विकार आत्मा का स्वरूप नहीं है, एकतत्त्व में बंध कहने पर स्वतंत्रता के ऊपर प्रहार होता है। भाई! दृष्टि को बदल, स्वतंत्रता की ओर देख तो बंधन नहीं रहेगा। एकत्व निश्चय को प्राप्त; स्वतंत्र सिद्धदशा में स्थित रहता है, सो तो सुंदर है, किन्तु जो पर में एकत्वरूप दृष्टि को प्राप्त संसारदशा में—बंधदशा में है जो कि असुंदर है।

लोगों में ऐसा कहा जाता है कि ससुराल के नाम से जमाई की पहचान होना लज्जाजनक है। वह स्वयं जिसकी संतान है उस पिता के नामसे पहचाना जाय तो ठीक है: उसीप्रकार भगवान आत्मा अपनी सजातीय संतान, निर्मल पर्याय जो शुद्धात्मा है उसके संबंध से पहचाना जाय तो यथार्थ है, किन्तु कर्म के निमित्त से विकार पर्याय के द्वारा पहचाना जाय तो यह बहुत बुरी बात है। बंध भाव के द्वारा पहचाने जाने में तेरी शोभा नहीं है। अन्तरंग से निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्र का प्रवाह बहता है, उससे आत्मा की पहचान होना सुंदर है, किन्तु पराधीनता—कलंक के द्वारा पहचान होना सुंदर नहीं है।

सर्वज्ञ भगवान ने देखा है कि इस जगत् में यह वस्तुए अनादि-अनंत और भिन्न भिन्न रूप से विद्यमान हैं—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति काय, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों म से एक आत्मा के ही संसार रूप बंधन है। विभाव रूप पर समय व विरोधरूप है। शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना सो स्वसमय है, और पर मेरे हैं ऐसा मानकर पर मे स्थिर होना सो पर समय है। आत्मा वस्तु एक है और उस में अवस्थायें दो है,-निर्मल और मलिन। ऐसे पर के संबंध की विकारी दशायुक्त आत्मा को समझना सो झंझट म डालने वाली बात है।

एकत्व-निश्चय को प्राप्त जगत के सर्पूर्ण पदार्थ शोभा को प्राप्त होते हैं। आत्म पदार्थ अनादि-अनंत-स्वतंत्र है, उसे पर के संबंध से बंधनवाला कहना, कर्म के आधीन कहना सो पराधीनता है, स्वतंत्रता को लूटने का भाव है। जैसे गाय के गला पैरों के बीच में डेंगुर (लकड़ा) डाला जाता है तब ऐसा समझा जाता है कि यह गाय सीधी नहीं है, इसी प्रकार भगवान चैतन्य तत्व स्वतंत्र है, वह कर्म के डेंगुर से बंधन भाव में रहता है। उसे ज्ञानी धर्मी भी ठीक नहीं मानता। पुण्य अच्छे हैं, शरीर आदि की अनुकूलता अच्छी है, यों कहना चैतन्य के लिये शोभा की बात नहीं है। पराधीनता को लाभरूप मानना शोभनीक नहीं है। जब आत्मा स्वयं विरोधवाला नहीं है, किन्तु आत्मा बंधन वाला है। इसप्रकार की मिथ्या मान्यता विरोध वाली है, क्योंकि संयोगी पदार्थ तो क्षणिक है। आत्मा सब संयोग से अलग् ही है। तथापि भिन्नता और स्वतंत्र तत्व को न जानकर पर का आश्रय मानना ठीक नहीं है।

भावार्थ:—लौकिक नीति म मानने वाले को भी ऐसा अनादि का आदर नहीं होता। लौकिक नीति म ... कुल का कोई पुत्र यदि नाच के पर नाचे तो ... उससे कहता है कि "भाइ! अपना कुल ऐसा है उसे यह कुमार्ग का ... नहीं ... , ... अपना कुल और जाति के लिए कलंकरूप है," इसप्रकार विरोध-

नाथ पिता संसार में अटके हुए आत्मा से कहते हैं कि "तेरी सिद्ध की जाति है; जड़-देहादि, पुण्य-पाप विकार में रहना तुझे शोभा नहीं देता।

जो लोग अनीति करते हैं उन्हें भी नीति के नाम की ओट लेनी पड़ती है, और वे कहते हैं कि क्या हम झूठ बोलते हैं? इसप्रकार नीति की ओट के बिना जगत का काम नहीं चलता। जिसके साधारण नीति और सज्जनता है उसे कुशील शोभा नहीं देता। किसी भी प्रकार की अनीति कलंकरूप है। और जबकि लौकिक नीति में भी ऐसा है तब आत्मा के लिए उत्कृष्ट लोकोत्तर नीति तो आवश्यक है ही। उसे भूलकर बंधन के प्रति उत्साहित होकर कहे कि मैंने पुण्य किया, पुण्य के फल से बड़ा राजा होऊंगा, देव होऊंगा, संसार में ऐसी व्यवस्था करूंगा, वैसा करूंगा, इत्यादि; सो सब कलंकरूप है।

अब 'समय' शब्द से, सामान्यरूप से (भेद किये बिना) सर्व पदार्थ कहा जाता है, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो 'समय' है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और अवस्था को प्राप्त होकर नित्य-ध्रुव रहता है, सो समय है।

जगत में इन्द्रियग्राही पदार्थ पुद्गल-अचेतन हैं। जो दिखाई देता है वह जड़ की स्थूल अवस्था है, क्योंकि मूल परमाणु इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। परमाणु में भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। रोटी, दाल, भात इत्यादि में रजकणता स्थायी रहती है, और अवस्था (पर्याय) बदलती रहती है। रजकण स्वतंत्ररूप से रहकर अपनी अवस्था को बदलते हैं; उनके जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण हैं वे स्थायी बने रहते हैं। इसी प्रकार जीव भी अनंत गुणों से युक्त, स्थिर रहकर अपनी अवस्था को बदलता रहता है।

लोक में छह पदार्थ हैं; वे यहाँ कहे जाते हैं :—

१—धर्मास्तिकाय—यह अनादि अनतं पदार्थ है, अरूपी है, लोकाकाश प्रमाण है, एक अखंड द्रव्य है। यह द्रव्य स्वयं गमन नहीं

करता, किन्तु जीव पुद्गल को गमन करने में निमित्त है। जैसे मछली को गमन करने में जल निमित्त है, उसीप्रकार यह धर्मद्रव्य है।

२—अधर्मास्तिकाय— यह द्रव्य लोकाकाश प्रमाण है, और जीव-पुद्गल को गति म से स्थितिरूप होने में निमित्त है। जैसे पथिक को वृक्ष की छाया ठहराने में निमित्त है।

३—आकाशास्तिकाय—यह अनत क्षेत्ररूप अरूपी पदार्थ अनादि-अनन्त है। जो कि सर्वव्यापक है, अचेतन है। इसके दो भेद है (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

(अ)—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल, कालाणु और जीव जितने क्षेत्र मे रहते हैं उतने क्षेत्र को लोकाकाश कहा है।

(ब)—लोकाकाश क अतिरिक्त अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते है।

लोग जिसे आकाश कहते हैं वह वास्तविक आकाश नहीं है, क्योंकि आकाशद्रव्य तो अरूपी है, और जो यह दिखाई देता है वह आकाश म केवल रंग दिखाई देता है, जो कि परमाणु की अवस्था है। आकाश के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं होते।

४—काल—यह एक अरूपी पदार्थ है। चौदहराजु लोक में असंख्यात कालाणु हैं।

यह चार (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अरूपी द्रव्य है, जो कि युक्ति और न्याय से जाने जा सकते हैं।

५—पुद्गल—पुद्= पूरण, एक दूसरे में मिलना और गल= जुदा होना। अथवा पुद्+गल= जैसे अजगर अपने पेट मे मनुष्य को गल (लील) जाता है, उसीप्रकार अरूपी-चैतन्यपिंड आत्मा ने शरीर की ममता की, इसलिए शरीर के रजकणा के दल में, सारे शरीर में ऐसा व्याप्त हो रहा है कि मानों शरीर ने आत्मा को निगल लिया हो,

और वह ऐसा ही दिखाई देता है। अज्ञानी की दृष्टि मात्र देहादि के ऊपर होती है, जब ज्ञानी की दृष्टि देहादि से भिन्न अरूपी-चैतन्य के ऊपर होती है। प्रत्येक रजकण में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की अवस्था बदला करती है-घटाबढ़ी हुआ करती है। जड़-देहादि पुद्गल की अवस्था की व्यवस्था जड़ स्वयं ही करता है। जो देहादि स्थूल परमाणुओं का समूह बदलता दिखाई देता है उसमें प्रत्येक मूलपरमाणु भी अपनी अवस्था में बदलता है। यदि सूक्ष्मपरमाणु अकेले न बदलते होते तो स्थूल आकार कैसे बदलता? इसलिये अनादि-अनन्त रहते हुए अवस्था को बदलने का स्वभाव पुद्गल का भी है।

६-जीवद्रव्य— यह अरूपी चैतन्यस्वरूप है। जानना-देखना इसका लक्षण है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव एक संपूर्ण द्रव्य है, इसलिए संपूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव है; जिसे वह प्रगट कर सकता है।

जगत में जो जो पदार्थ हैं उन सबको जानने की ज्ञान की सामर्थ्य होती है, और फिर वह ज्ञानस्वरूप-चैतन्य परपदार्थ के लक्षण से भिन्न है, वह भी यहाँ बताना है। जबकि यह खबर रखता है कि घर में क्या क्या वस्तु है, तो लोकरूपी घर में भी क्या क्या वस्तुये हैं, यह भी जानना चाहिए। मुझसे भिन्न तत्त्व कितने और कैसे है यह जानने की आवश्यकता है। यथार्थ लक्षण से निज को भिन्न नहीं जाना, इसलिए दूसरे के साथ एकमेक मानकर अपनी पृथक् जाति को भूल गया है। जिसे सुखी होना हो उसे पराधीनता और आकुलता छोड़कर अपनी स्वाधीनता तथा निराकुलता जाननी चाहिये।

" लोक्यंते जीवादयो यस्मिन् स लोकः। " अर्थात्--जिस स्थान में छह पदार्थ जाने जाते है वह लोक है। और जहाँ जड़-चैतन्य इत्यादि पाच द्रव्य नहीं है, किन्तु मात्र आकाश है वह अलोकाकाश है। लोक में अनन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि छहो द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य निश्चय से एकत्व-निश्चय को प्राप्त हैं। उनमें जीव को ही बंध भाव से द्वित्व आता है, वह विसंवाद उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है,

इसलिये वह अपने में स्वतंत्र, प्रथक् स्व एकत्वरूप से प्राप्त है। वह सुन्दर है, क्योंकि अन्य से उसमें संकर, व्यतिकर इत्यादि दोष आ जाते हैं।

चौदह राजु के लोकरूपी थेले में प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल भिन्न भिन्न विद्यमान है, यदि उनकी खिचड़ी (एकमेक) हो जाय तो संकरदोष आ जाता है।

" सर्वेषां युगपत् प्राप्तिस्संकरः " अर्थात् एक काल में ही एक वस्तु में सभी धर्मों की प्राप्ति होना सो संकरदोष है।

" परस्परविषयगमनं व्यतिकरः " अर्थात् परस्पर विषय-गमन को व्यतिकर कहते हैं।

यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु में मिल जाय तो वस्तु का ही अभाव हो जाय। प्रत्येक पदार्थ प्रथक् प्रथक् है, ऐसा कहने से आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भी समझना चाहिए, उसे प्रथक, स्वतंत्र, शुद्धरूप में समझना ही ठीक है। कर्म के निमित्त का आश्रय वाला तथा विकारीरूप में समझना ठीक नहीं है।

धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं, तब फिर तू आत्मा शुद्ध क्यों नहीं है? इसमें शुद्ध कारण पर्याय की ध्वनि है। तेरा तत्व पर से भिन्न है, तथापि तुझमें यह उपाधि क्यों है? यदि तू अपने को पर से भिन्नरूप में देखे तो तुझे यह दिखाई देगा कि तुझमें तेरे अनन्तगुण विद्यमान हैं, उनकी निर्मल पर्याय से तीनोंकाल में तेरा एकत्व-लीनपना है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त धर्मों में अन्तर्मग्न है। परमाणु उनके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में लीन-एकरूप रहते हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण लीनपने से रहते हैं। जीव अपने ही अनन्त गुणों को स्पर्श करता है, उनमें ही परिणमन करता है। आत्मा रजकण को स्पर्श नहीं करता, और रजकण आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा में हैं, जड़ के जड़ में हैं। लोग पुद्गल-

जड़ को अशक्त मानते हैं, और यह मानते हैं कि उसमें कोई शक्ति नहीं है, किन्तु यह भूल है, क्योंकि रजकण तो जड़ेश्वर हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। उन जड़ रजकणों की अवस्था प्रत्येक क्षण अपनेआप बदलती रहती है। उस अवस्था की व्यवस्था स्वतंत्ररूप से होती है। इसीप्रकार जगत में प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। छहों द्रव्य एक क्षेत्र में रहने पर भी कभी एकरूप नहीं होते। ऐसे पर से नास्तिरूप गुणवाले 'अन्यत्व' आदि नाम के अनन्तगुण प्रत्येक पदार्थ में हैं। वैसे अनन्तगुण अपने स्वभाव को स्पर्श कर रहे हैं, अपने स्वभावरूप में परिणमन करते हैं, पररूप में परिणमन नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं है। इस प्रकार अस्ति—नास्ति दोनों स्वतंत्र स्वभाव कहे गये हैं। किसी द्रव्य की कोई भी अवस्था किसी पर के आधीन नहीं है।

यहाँ धर्म कहा जाता है। वह इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, इसलिए पर से अपना धर्म नहीं होता। प्रत्येक वस्तु पृथक्–पृथक् है, इसलिए यह मानना सर्वथा अयथार्थ है कि एक वस्तु दूसरे की कुछ भी सहायता करती है।

असत्य के फलस्वरूप सच्चा सुख नहीं मिलता। प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् है। दूसरे आत्मा को कोई आत्मा सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि कोई आत्मा पररूप से नहीं हो सकता। इसप्रकार यहाँ स्वतंत्रता की घोषणा की गई है।

प्रश्न—जड़ में कौन से भाव हैं?

उत्तर—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श; पुद्गल–जड के भाव हैं। प्रत्येक परमाणु में अनन्तगुण हैं।

चेतन के ज्ञान–दर्शन आदि भाव हैं। प्रत्येक पदार्थ अत्यंत-निकट एक ही क्षेत्र में व्यापक होने पर भी भिन्न भिन्न हैं। यद्यपि सभी एक

क्षेत्र में हैं तो भी वे सदा स्वस्वरूप से रहते हैं, परवस्तुरूप में कभी कोई नहीं होता।

एक थैले में सुपारी, मिश्री इत्यादि इकट्ठे भरे हों, इसलिए वे उस भाव से एकरूप नहीं हो जाते, इसीप्रकार प्रथमभाव से समस्त वस्तुओं का प्रथक्त्व रहा है।

अब सभी का क्षेत्र से प्रथक्त्व बताते हैं-दूध और पानी आकाश के एक क्षेत्र में एकत्रित कहलाते हैं, तथापि स्व-क्षेत्र में भिन्न भिन्न हैं, इसलिए पानी जल जाता है और दूध मावारूप में परिणत हो जाता है। जो स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से पृथक् थे वे पृथक् ही रहे, जो अलग हो जाते हैं वे एकमेक नहीं होते। अग्नि की उष्णता अग्नि में एकमेक है, इसलिए कभी पृथक् नहीं होती। गन्ने में रस और मिठास एकरूप है इसलिए वह कभी पृथक् नहीं होते। धान्य से छिलका अलग है, इसलिए वह मशीन में डालने से अलग हो जाता है, इसीप्रकार देहादि से चेतन स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्न है, इसलिए वह पृथक् रहता है। अज्ञानी को पर से पृथक्त्व का ज्ञान नहीं है, इसलिये पृथक्त्व या स्वतंत्रता को नहीं मानता। दूध को उबालने से पानी जल जाता है और मावा सफेद पिंडरूप रह जाता है, इसीप्रकार जीव में वर्तमान क्षणिक-अवस्था में जो अशुद्धता है, वह शुद्धस्वभाव की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से दूर हो सकती है। राग-द्वेष-विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह दूर हो सकता है, तब फिर रजकण-देहादि आत्मा के कैसे हो सकते हैं?

अन्तरंग में अपनी स्वाधीनता की जिसे कुछ चिंता नहीं है उसकी समझ में यह कुछ नहीं आता। कोई वस्तु पररूप परिणमित नहीं होती, इसलिये स्वतंत्र है। जो 'है' वह पररूप नहीं होने के कारण है। अपनी अनन्तशक्ति नाश को प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ टंकोत्कीर्ण शाश्वतस्वरूप से, स्पष्ट, प्रगट एकरूप, स्व-अपेक्षा से स्थिर रहता है।

प्रत्येक जीव-अजीव का धर्म प्रगट है, पर से पृथक्त्व है। विरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु पर से-असत्स्वरूप से है, और अविरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु स्वत्व से सत्‌रूप से है। सत् अर्थात् अस्तिरूप कार्य, और असत् अर्थात् नास्तिरूप कार्य। दोनों स्वभाव के कारण सदा विश्व में रह रहे हैं। स्व से स्वयं है, और पर से स्वय नहीं है, ऐसी प्रत्येक वस्तु पर से नास्ति और स्व से अस्ति होने से विश्व को सदा स्थिर रखती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति धर्म है, और वे प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता को बतलाते हैं।

इसप्रकार सर्व पदार्थों का पृथक्त्व और स्व में एकत्व निश्चित होने से इस जीव नामक समय (पदार्थ) के बंध की कथा विरोधरूप आती है, वह ठीक नहीं है।

आत्मा से भिन्न चार अरूपी द्रव्य स्वतंत्र हैं, निरपेक्ष, एकत्व को प्राप्त हैं, इसलिये वे शोभा पाते हैं। तब तुझे बंधन (पर की उपाधि) युक्त कैसे कहा जाय? धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जो पृथक् पृथक् रजकण हैं उनके तो पर का सम्बन्ध नहीं होता, और तेरी आत्मा के बंधनभाव हैं, यह कहना घोर विसंवाद की बात है। मैं पर से बंधा हुआ हूँ यही विचार अपनी स्वतंत्रता की हत्या करना है। पर के लक्ष से राग-द्वेषरूप विकार करना कहीं शोभारूप नहीं है, किन्तु आपत्तिजनक है। पृथक्-स्वतत्र आत्मा को पर का बंधनवाला कहना परमार्थ नहीं है।

प्रश्न—किन्तु यह सामने तो बन्ध दिखाई देता है?

उत्तर—वर्तमान क्षणिक संयोगाधीनदृष्टि को छोड़कर अपने त्रैकालिक असंयोगी-अरूपी ज्ञानस्वभाव को देखे तो आत्मा बंधरहित, स्वतंत्र ही दिखाई देगा। देह और पर को देखने की जो दृष्टि है सो बाह्यदृष्टि है, वह आत्मा की निर्मलता को रोकनेवाली है। अज्ञानी जीव अपने स्वतंत्र स्वभाव को भूलकर पर के कार्य मैंने किये, मैं देहादि का काम कर सकता हूँ, मैंने समाज में सुधार किये, मैं था तो चंदा लिखा गया,

बड़ी रकम भरी गई, मैं था तो यह कार्य हुआ, इत्यादि मान्यता के अभिमान से स्वयं अपनी हत्या कर रहा है। इसलिए हे भाई! तू पर के अभिमान को छोड़ दे, पर कार्य के अभिमान से चैतन्य की सम्पत्ति लुट रही है, वह पराधीनता है तथापि उसे उत्साहसहित मानना पागलपन है।

पुण्य-पाप का बंध भाव मुझे लाभ करता है, पुण्य से गुण का विकास होता है, इसप्रकार पर से लाभ माननेवाला बंध को प्राप्त होता है। यह विपरीत क्योंकर उपस्थित होता है, सो आगे कहा जायगा।

आत्मा सदा अरूपी, ज्ञान-दर्शन-सुखस्वरूप से है। उससे भिन्न जो पुद्गल है उसमें वर्ण, गंध रस, स्पर्श है। ये गुण अरूपी द्रव्यों में नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरे चार पदार्थ अरूपी हैं, उनमें चेतनागुण तथा सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, किन्तु उनकी अनन्तशक्ति उनमें उनके आधार से है। प्रत्येक वस्तु की पृथक् सत्ता है। आत्मा का धर्म शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का एकता है। आत्मा स्वयं धर्म स्वरूप है, पुण्य-पापरूप नहीं है। इसलिए पुण्य से आत्मा का धर्म नहीं होता। पुण्यादि परवस्तु हैं। देह, मन, वाणी, पैसा इत्यादि परवस्तु से आत्मा का धर्म नहीं होता। दान-भक्ति द्वारा तृष्णा को घटाये तो वह पुण्यरूपी शुभभाव हुआ। वह भाव अरूपी आत्मा के होता है। धर्मभाव तो रागरहित है। परवस्तु से, रुपये-पैसे आदि से दान देने की जड़क्रिया से पुण्य-पाप या धर्म नहीं होता। पर के प्रति जो तीव्र राग है वह अशुभ-पापभाव है। यदि तीव्र राग को कम करके शुभभाव करे तो वह पुण्य कहलाता है। धर्म उनसे भिन्न वस्तु है, राग-द्वेष भी चैतन्यस्वभाव के नहीं है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं, उनमें से कोई धर्म कम नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु का पर की अपेक्षा से नास्तित्व और अपनी अपेक्षा से अस्तित्व है, इसलिए वह पर-अपेक्षा से नहीं है और स्व-अपेक्षा से

है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु पर की सहायता के बिना स्वतंत्ररूप से सदा स्थिर रहती है। इसप्रकार संपूर्ण पदार्थों का भिन्न भिन्न एकत्व निश्चित हुआ।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ पृथक् हैं, तथापि पृथक्त्व को भूलकर जो यह मानता है कि मैं पर का कार्य कर सकता हूँ, मैं सयाना हूँ, मैंने इतने काम किये, यह सब व्यवस्था मेरे हाथ में है, इत्यादि। वह समस्त पर को अपना माननेवाला है। किसी भी परवस्तु की प्रवृत्ति मेरे द्वारा होती है, मेरे आधार से होती है, इसप्रकार जो मानता है उसने पर को अपना माना है। कई लोग मुँह से तो यह कहा करते है कि हम पर को अपना नही मानते, तथापि वे ऐसा तो मान ही रहे है कि हमने घर में सभी को सुधार दिया, हमने इतनों को सहायता दी है इत्यादि। जो पर की अवस्था स्वतंत्रतया हुई है उसे मैंने किया है, इसप्रकार उसने मान ही रखा है, और यही अनादि का अहंकार है। संसार के सयाने का मान छोड़ना कठिन होता है।

मैंने ऐसी चतुराई से काम किया है कि वह आदमी चक्कर में आ गया, इसप्रकार कई लोग मानते हैं, किन्तु वास्तव में तो वे स्वयं ही चक्कर में है। उस मनुष्य को उसके पुण्य के हीन होने के कारण तेरे जैसा निमित्त मिला, किन्तु तूने पर का कुछ किया नहीं है, मात्र अपने में राग-द्वेष–अज्ञान किया है।

आत्मा को राग-द्वेषरहित, ज्ञाता–साक्षीरूप मानना सो भेदज्ञान है, और भेदज्ञान होने पर उसके अभिप्राय में जगत् के लोगों के अभिप्राय से अन्तर पड़ जाता है।

जीव नामक पदार्थ जो चिदानंद रसरूप से स्वतंत्र है, उसे पर का सम्बन्ध वाला मानना, तथा उस पर के सम्बंध से पुण्य–पाप विकार होता है, ऐसा संपूर्ण आत्मा को मान लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। पराश्रय से जो क्षणिक बंध अवस्था होती है उसे आत्मा के त्रैकालिक निर्मल स्वभाव में खतया लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। थोड़े समय के लिये किसी के पास से

जो वस्तु उधार लाई गई हो उसे घर की सपत्ति में जमा नहीं किया जा सकता, इसीप्रकार आत्मा त्रिकालशुद्ध-ज्ञानघन है, उसमें पर जो मन, वाणी, देह अथवा पुण्य-पाप के सयोग हैं उन्हें अपने हिसाब में नहीं गिना जा सकता। आत्मा सदा अरूपी-ज्ञाता है, वह ज्ञान और शांति अथवा अज्ञान और रागद्वेष के भाव के सिवाय कुछ भी नहीं कर सकता, तथापि यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। आत्मा के हाथ, पैर, नाक, कान नहीं होते तथापि वह उनका स्वामी बनता है। यह अनादि की मिथ्या-शल्य है।

ससार के प्रेम के कारण झूठी बातों को जहाँ तहाँ सुनने जाता है, अखबारों मे लड़ाई की बातें पढ़ता है, उत्साह से उसकी चर्चा करता है, किंतु यह सब ससार में परिभ्रमण करने के कारण हैं।

हे भाई! तू प्रभु है, तूने अपने मुक्तस्वभाव की बात कभी नहीं सुनी, धर्म के नाम पर भी काम-भोग-बध की ही कथा ही सुनी है। जिसने पांचलाख रुपये कमाये हों उससे धर्मगुरु कहते हैं कि दान करो। और वह मानता है कि पांच-दस हजार का दान देने से मुझे धर्म होगा और उससे सुखी हो जाऊंगा। इसीप्रकार यदि यह कहा जाय कि देहादि की क्रिया से धर्म होता है, तो उसे वह भी रुचता है। इस-प्रकार सस्ते में जीव ने धर्म मान लिया है। किन्तु देह की क्रिया मे धर्म नहीं होता, क्योंकि, देह आत्मा से भिन्न है।

जो ज्ञानी है वह दान देते समय ऐसा मानता है कि मैंने तो धन से तृष्णा घटाई है, लेनेदेने की क्रिया का मैं कर्ता नहीं, स्वामी नहीं, मैं तो तृष्णारहित ज्ञानस्वभावी हूँ। और अज्ञानी जड़ का स्वामी होकर पांच हजार का दान देगा तो जगत् मे घोषित करेगा कि मैंने दान दिया, मैंने रुपये दिये, और कैसा प्रशंसा होती है उसे सुनने के लिये तत्पर रहेगा। देखो तो यह स्वभाव! स्वयं अपनी महिमा दिखाई नहीं देती, इसलिये दूसरे के पास से महिमा की इच्छा करता है।

गृहस्थदशा में रहने वाला ज्ञानी दान देता है, किन्तु किंचितमात्र अभिमान नहीं करता। यदि कोई प्रशंसा करता है कि तुमने अच्छा दान दिया है, तो वह मानता है कि यह मुझे पर का कर्ता कह रहा है, जो कि कलंक है। लोग कहते हैं कि 'तुमने अपनी वस्तु दान में देदी है; किन्तु ऐसा कहकर तो वे मुझे जड़ का स्वामी बनाते हैं। पर का स्वामित्व चोरी का कलंक है।

जड़ मेरी वस्तु नहीं है, इसलिये मैंने नहीं दी है। जड़ पदार्थ का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना उस उस पदार्थ के आधीन है। तृष्णा घटाने का भाव मेरे आधीन है। किसी रजकण का अथवा मन का अवलंबन रहे तो वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जानने से पर से पृथक्त्व का पुरुषार्थ प्रगट होता है। यदि पर का स्वामित्व रखता है, पुण्य के बंधन भाव को ठीक मानता है तो उसके विपरीत पुरुषार्थ है। मैं पुण्य-पाप से रहित पर से भिन्न हूं, पूर्ण पवित्र ज्ञायकमात्र हूँ, किसी के अवलंबन के बिना स्थिर रहने वाला हूँ, जो ऐसा मानता है उसके अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट होता है। पहले श्रद्धा में यह निर्णय करना सो अनंत सीधा पुरुषार्थ है। जो पर का कर्ता होकर जड़ का स्वामी होता है वह पर की क्रिया से लाभ माने बिना कैसे रहेगा?

जो अनंतकाल की अज्ञात वस्तुस्थिति है उसका अधिकार प्राप्त होने पर उसके स्वरूप को ज्यों का त्यों स्पष्ट करना सो व्याख्यान है।

ज्ञानी दान देगा तब अपूर्वतृष्णा घटेगी और अज्ञानी अल्पपुण्य के होने पर अभिमान करेगा। जो तृष्णा को कम नहीं करता उसे समझाने के लिये श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कौवे का दृष्टान्त दिया है— खराब और बचीखुची वस्तु घूरे पर डालदी जाती है तो कौवा वहां खाने के लिये आता है और कॉव कॉंव करके दूसरों को इकट्ठा करके खाता है, स्वयं अकेला नहीं खाता, इसीप्रकार पहले जीव के गुणों को जलाकर, शुभभाव करके जिसने पुण्य बांधा है वह बचीखुची और जली हुई वस्तु है। ऐसी वस्तु को जो मनुष्य अकेला खाता है अर्थात् दूसरे को दान

नहीं देता, दूसरे को दान लेजाने के लिये नहीं बुलाता, वह कौवे से भी गया बीता है। गुण के जलने से पुण्य बंधता है, आत्मभाव से पुण्य-पाप नहीं बंधते । आत्मा के गुण से बंध नहीं होता । जला-भुनी वस्तु को भी कौवा अकेला नहीं खाता, किंतु तेरे गुण जलकर जो पुण्यबंध हुआ है उसके उदय से तुझे जो कुछ मिला है उसमें से किसी को कुछ नहीं दे तो तू कौवे से भी हलका है। ज्ञानी लट्ठ नहीं मारता, किन्तु तृष्णा के कुएँ में डूबे हुए को उसमें से बाहर निकालने के लिये करुणा से उपदेश देता है । प्रत्येक बात न्याय से कही जाती है ! जिसे जो अनुकूल मालूम हो उसे वह ग्रहण करले ।

जिसे सच्ची श्रद्धा है उसे परवस्तु का स्वामित्व नहीं है इसलिये दानादि देते हुए भी उसे उसका अभिमान नहीं होता। दान, भक्ति इत्यादि प्रत्येक संयोग में राग कम होकर उसके स्वभाव में निराकुलता-तथा स्थिरता बढ़ती जाती है।

आत्मा अकेला स्व में लीन हो तो राग-द्वेष विकार नहीं होता, किन्तु पर के आधीन हुआ इसलिये विसंवादरूप, उपाधिभाव वाला कहलाता है। विकारी भाव को अपना मानना सो जड़-पुद्गल कर्म के प्रदेश में रत होना है। जब अज्ञान से परवस्तु में युक्त होने का स्वय भाव करता है तब जीव के राग-द्वेष का कर्तृत्व आता है। पर को माहात्म्य दिया और अपना माहात्म्य भूल गया। तू स्त्री-पुत्रादि को मेरा-मेरा कर रहा, किन्तु वे तेरे नहीं है।

एक तत्त्व को-एक आत्मा को अपनेरूप और कर्म के सम्बन्धरूप-दोरूप कहना सो बंध की विकारीदृष्टि है। विकारीदृष्टि वाला बंधन की बातें आनन्दपूर्वक करता है और कहता है कि अब मात्र धर्म कर बैठ रहने का समय नहीं, किन्तु सक्रिय काम करके हमें जगत् को बता देना चाहिये, ऐसा कहने वाले का अभिप्राय मिथ्या है। क्योंकि पर का स्वय कर सकता है ऐसा वह मानता है। शरीर, मन, वाणी का कार्य कार्य भिन्न है। उसकी प्रवृत्ति मुझसे होती है-ऐसा

मानना तथा उसको अपना मानना सो स्वतंत्र चैतन्य आत्मा की हत्या करने की मान्यता है। आत्मा स्वतंत्र, भिन्न है। उसको पृथक् न मानकर पर का कर्ता हूँ, ऐसा मानने वाले सभी लोगों का अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। वे असत्य का आदर करने वाले हैं। एकबार यथार्थ रीति से समझे कि जीव अजीवादि सर्व पदार्थ तीनोंकाल में पृथक् हैं, तो फिर किसी पर का कुछ कर सकता है या नहीं. ऐसी शंका नहीं हो सकती। अपना कार्य किसी की सहायता से नहीं हो सकता।

एक परिणाम के कर्ता दो तत्व नहीं होते; क्योंकि जड़—चेतन सभी पदार्थ सदा स्वतंत्ररूप से अपनी अपनी अर्थक्रिया कर रहे हैं, फिर भी जो ऐसा नहीं मानते हैं वे जीव अपने चैतन्य की स्वतंत्रता की हत्या करते हैं।

आत्मा को पराश्रयता शोभारूप नहीं है। जिस भाव में तीर्थंकरत्व बंधता है वह भी रागभाव है, ऐसा जानकर पुण्य-पापरहित निरावलंबी आत्मा का जो एकत्व है वही शोभारूप है।

मैं सदा स्वावलंबी-मुक्त हूँ, ऐसा जाने बिना जो कुछ जाने--माने और कहे सो सब व्यर्थ है। मैंने पर का ऐसा किया, सेवामण्डल का ऐसा किया, हम थे तो ऐसा हुआ इत्यादि, कर्तृत्व की बात सुनना, उसका परिचय करना, उसका अनुभव करना, इस जीव को अनादि से सुलभ हो रहा है। इसलिये आचार्यदेव एकत्व की असुलभता बताते हैं:—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

अर्थ— समस्त लोक को काम-भोग संबंधी बंध की कथा सुनने में आगई है, परिचय में आगई है, और अनुभव में भी आगई है, इसलिये

सुलभ है। किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व न कभी सुना है, न उसका परिचय प्राप्त किया है, और न वह अनुभव में ही आया है, इसलिये वह सुलभ नहीं है।

'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ,' ऐसी मान्यता 'काम' और संसारी पदार्थ भोगने का भाव भोग है। पर का मैं कर सकता हूँ, ऐसा अनादिकाल से जीव ने माना है। किन्तु वह कुछ नहीं कर सकता। मैंने पुण्य किया है, इसलिये भोगना चाहिये, पुण्य का फल मीठा लगता है, ऐसा जो मानते हैं वह इस विशाल गृहरूपी भौंयरे में ऐसे पड़े रहते हैं जैसे विशाल पर्वतों की गुफाओं में जानवर-जन्तु पड़े रहते हैं। आत्मा की प्रतीति के बिना दोनों समान हैं।

इतना करो तो पुण्य होगा, फिर अच्छा संयोग मिलेगा, देवभव में ऐसे सुख मिलेंगे, ऐसा सुनकर जीव पुण्य को धर्म मानता है, किन्तु पुण्य का फल तो धूल है, उससे आत्मा को कलंक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्टा सूअर नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को-जगत की धूल को विष्टा समझ कर त्याग दिया है उधर अज्ञानीजन पुण्य को उमंग से अच्छा मानकर आदर करता है। इसप्रकार ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्यरूप विष्टा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं। ज्ञानीजनों ने पुण्य-पापरहित आत्मा की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से मोक्ष प्राप्त किया है।

लोग मानते हैं कि श्रीपाल ने व्रत धारण किया था, इसलिये उनका रोग मिट गया था, किन्तु शरीर का रोग दूर करने का कार्य धर्म का नहीं है। पूर्व का पुण्य हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्म के फल से रोग दूर होता है, ऐसा माननेवाला धर्म के स्वरूप को समझा ही नहीं है। पुण्य शुभपरिणाम से होता है, और धर्म आत्मा की शुद्धदशा प्रगट करने से होता है इसकी उसे खबर नहीं है। सनतकुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ग्रहण की उसके बाद उन महान धर्मात्मा-मुनि को बहुत वर्षों तक तीव्र रोग रहा तथापि शरीर के ऊपर धर्म का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

यह बात नहीं कि धर्म से शरीर निरोगी रहता है, किन्तु धर्म के फल से पुण्य और शरीर इत्यादि का बंध ही नहीं होता। मोक्षमार्ग में पुण्य का भी निषेध है, तब आजकल लोग धर्म के नाम से अपनी मनमानी हांकते रहते हैं और कहते है कि पुण्य करो, उससे मनुष्य या देव का शरीर मिलेगा और फिर परंपरा से मोक्ष प्राप्त होगा।

जीव राग-द्वेष का कर्ता है; उसके फल का भोक्ता है इत्यादि काम-भोग-बन्ध की कथा जीव ने अनन्त बार सुनी हैं, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जड़ के संयोग की रुचि छोड़ो; पुण्य से धर्म नहीं होता।

शंका—आपने तो पुण्य को जुलाब ही दे डाला है?

समाधान—जमालगोटा का जुलाब दिये बिना विकार (विपरीत-मान्यता) दूर नहीं हो सकता। पुण्य मेरा है, शुभभाव करते करते धीरे धीरे धर्म होगा, ऐसी विषैली मान्यता का अर्थात् रागद्वेष-अज्ञानभाव का वीतराग के निर्दोष वचन विरेचन करा देते हैं। किसी भी बन्धनभाव का आदर नही होना चाहिये।

यदि कोई आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विरुद्ध भाव को धर्म कहे तो वह विकथा है। अजान को सत्य बात कठिन मालूम होती है, क्योंकि उसने वह पहले कभी सुनी नहीं है, इसलिऐ कदाग्रही को वह विरोधरूप लगती है, परन्तु सरल जीव अपनी शुद्धता की बात सुनकर हर्ष से नाच उठते हैं और कहते है कि अहो! ऐसी बात हमने कभी भी नही सुनी थी।

"हमने तुम्हारे लिये इतना किया है," ऐसा कहने वाला असत्य कहता है, क्योंकि तीन काल और तीन लोक में कोई पर का कुछ कर नहीं सकता, मात्र वह ऐसा मानता है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी पर का कुछ कर ही नही सकता। अनादिकालीन विपरीतदृष्टि खण्ड को बदल कर नये माल (सच्ची दृष्टि) को भरने के लिये नया खण्ड बनाना चाहिए।

वर्तमान में धर्म के नाम पर बहुत सी गड़बड़ी दिखाई देती है-पुण्य से और पर से धर्म माना जाता है। किन्तु अनादि से जीव जो मनाता

आया है उससे यह बात भिन्न है। सत्य बात तो जैसी है वैसी ही कहनी पड़ती है और उसे माने बिना छुटकारा नहीं है। सत्य को हल्का-सस्ता बनाकर छोड़ा नहीं जा सकता। यदि कोई कहता है कि यह तो बहुत उच्चकोटि की बात है, सो ऐसा नहीं है, क्योंकि यह धर्म का सर्वप्रथम इकाई की बात है।

आत्मा को पुण्यादि पर-आश्रय की आवश्यकता प्रारम्भ में भी नहीं है। सच्ची समझ के बिना व्रत-तप इत्यादि में पुण्य बाधकर जीव नवमें ग्रैवेयक तक गया, फिर भी स्वतन्त्र आत्मस्वभाव को नहीं जाना, और इसीलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

जीव ने ऐसा परम सत्य इससे पूर्व कभी नहीं सुना कि अनन्तगुणों का पिंड, चैतन्य आत्मा पर से पृथक् है। एक रजकण भी मेरा नहीं है, रजकण की अवस्था या देह, मन, वाणी की प्रवृत्ति मेरी नहीं है, मैं तो ज्ञाता ही हूँ इत्यादि। इसलिये कहता है कि प्रारम्भ में कोई आधार तो बताओ, कोई आश्रय लेने की तो बात करो, देव, गुरु, शास्त्र कुछ सहायता करते हैं, ऐसा तो कहो। किंतु भाई! तू पृथक् है और देव, गुरु, शास्त्र, पृथक् हैं एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की कुछ सहायता नहीं कर सकता। जब स्वयं समझे तब देव, गुरु, शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। उपादान की तैयारी न हो तो देव, गुरु, शास्त्र क्या करेंगे? जैसे पिंजरा-पोल के जिस पशु के पैर में शक्ति न हो उसे यदि लकड़ी के सहारे बलात् खड़ा करें तो भी वह गिर पड़ता है, और गिरने से जो धक्का लगता है, उससे वह अधिक अशक्त हो जाता है। इसीप्रकार जो यह मानता है कि मैं शक्तिहीन हूँ, उसे देव, गुरु, शास्त्र के सहारे खड़ा किया जाय तो भी वह नीचे गिर पड़ता है, और पछाड़ खाकर अधिक अशक्त हो जाता है। देव, गुरु, धर्म वीतरागी स्वतन्त्र तत्त्व हैं, उसीप्रकार मैं भी स्वतन्त्र अनन्तशक्ति वाला हूँ। पर के आश्रय के बिना मैं अपने अनन्त गुणों को प्रगट कर सकता हूँ, ऐसा यथार्थ मान्यता सम्यग्दर्शन है। ऐसा होने पर भी जो यह मानते हैं कि देव, गुरु, शास्त्र मुझे तार देंगे व

[illegible]नी यह नहीं मानते कि [illegible]देव के द्वारा कही गई यह बात सत्य है कि आत्मा स्वतंत्ररूप से अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है।

सर्वज्ञ वीतराग [illegible] हैं कि हम स्वतंत्र और भिन्न हैं, तू भी पूर्ण स्वतंत्र और भिन्न है। किसी की सहायता की तुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा निस्पृही वचन वीतराग के बिना दूसरा कौन कहेगा ?

बहुत से लोग कहा करते हैं कि हमारा स्वार्थत्याग तो देखो, हम जगत् के लिये मर फिरते हैं, हम अपनी हानि करके भी जगत् का सुधार करते हैं, किंतु लोगों को यह खबर नहीं है कि ऐसा कहने वाले ने औरों को पराधीन तथा अशक्त ठहराया है।

कोई किसी का उपकार नहीं करता, मात्र वैसा भाव कर सकता है। स्वयं सत्य को समझे, और फिर सत्य को घोषित करे, उसमें जो भी तत्पर जीव हो वह सत्य को समझ लेता है, ऐसी स्थिति में व्यवहार से कहा जाता है कि उसका उपकार किया है। साक्षात् तीर्थंकर देव प्रथक् हैं और तू प्रथक् है; उनकी वाणी अलग है; इसलिये वह तुझे कदापि सहायक नहीं हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतंत्र तत्त्व समझ में नहीं आयगा।

प्रश्न—ऐसा मानने के बाद, क्या फिर कोई दान, सेवा, उपकार आदि न करे ?

उत्तर—कोई किसी पर का कुछ कर नहीं सकता, किंतु पर का जो होता है, और जो होना है वह तो हुआ ही करेगा; तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानी के भी शुभभाव होता है, किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता।

अनादि की विपरीत मान्यता को लेकर पर में एकत्व सुलभ हो गया है और पर से प्रथक्त्व का श्रवण, परिचय, अनुभव कठिन हो गया है। भूतकाल के विपरीत अभ्यास की अपेक्षा से मंहगी बताई है, किन्तु पात्रता प्राप्त करके परिचय करे तो ज्ञात हो कि यह अपनी स्वाधीनता की बात है, इसलिये सस्ती है।